महान् दार्शनिक माला

प्रधान संपादक
प्रोफेसर रामनाथ कौल
सहायक संपादक
सङ्गमलाल पाण्डेय



प्रकाशक
गर्ग-ब्रदर्स, पो० ब० ६६, १८ कटरा रोड, प्रयाग

महान् दार्शनिक माला

प्रकाशित

१—स्पीनोजा का दर्शन—लेखक श्री संगमलाल पाण्डेय
२—गान्धी का दर्शन—लेखक श्री संगमलाल पाण्डेय

प्रणयन में

३—बर्कले का दर्शन—लेखक प्रो० रामनाथ कौल और श्री शिवशंकर राय
४—राधाकृष्णन् का दर्शन—लेखक डा० शिवमूर्ति तिवारी
५—अरस्तू का दर्शन—लेखक श्री शिवानन्द शर्मा

नीतिशास्त्र की प्रकाशित पुस्तकें

१—नीतिशास्त्र भाग १ और २—लेखक प्रो० कृष्णकुमार
२—नीतिविग्रह—लेखक श्री संगमलाल पाण्डेय

महान् दार्शनिक माला
२

गान्धी का दर्शन

लेखक
सङ्गमलाल पाण्डेय
अध्यापक, दर्शन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय



प्रकाशक
गर्ग-ब्रदर्स, पो० ब० ६६, १, कटरा रोड, प्रयाग

प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १००० अप्रैल सन् १९५७
मूल्य ५)

—आर० एन० गर्ग द्वारा गर्ग प्रेस, प्रयाग, उ० प्र०, भारत में मुद्रित

सम्पादकीय प्राक्कथन

महान् दार्शनिक माला हिन्दी तथा दर्शन दोनों में अपना विशिष्ट योगदान करती है। हिन्दी में इसका योगदान विश्व के महान् दार्शनिकों के विचारों को यथासभव उन्हीं के शब्दों द्वारा व्यक्त करना, उनके भाष्य-कारों के महत्त्वपूर्ण मत-मतान्तरों की समीक्षा करना और उनके जीवन तथा उनसे सम्बन्धित अद्यावधि दर्शन-साहित्य का थोड़े में पर्याप्त परिचय देना है। दर्शन में इस माला का योगदान यह है कि यह महान् दार्शनिकों और उनके भाष्यकारों की समीक्षात्मक व्याख्या करके नूतन तथा मौलिक अर्थ का प्रतिपादन करते हुये वर्तमान दर्शन की समस्याओं से उनका सम्बन्ध स्थापित करती है जिससे दर्शन की वर्तमान तथा सनातन समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और दर्शन-जगत् में इन दार्शनिकों का महत्त्व और स्थान निर्धारित हो जाता है।

हर्ष है कि इस माला का दूसरा पुष्प 'गान्धी का दर्शन' अब जनता के हाथों में है। श्री सङ्गम लाल पाण्डेय ने सर्वप्रथम 'स्पिनोजा का दर्शन' लिखकर इस माला का श्रीगणेश किया था। इस बार इन्होंने 'गान्धी का दर्शन' लिखकर इसका माला नाम यथार्थ कर दिया है और इसमें नई जान ला दी है। महात्मा गान्धी विश्वविख्यात सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक नेता ही नहीं वरन् शास्त्रीय दार्शनिक भी हैं— पाण्डेय जी ने इस तथ्य को इतने तर्कपूर्ण और प्रामाणिक ढंग से सिद्ध किया है कि कोई भी गान्धी जी को दार्शनिक मानने से इनकार नहीं कर सकता है। प्रस्तुत माला में उनको शास्त्रीय दार्शनिक की हैसियत से शामिल करने में मुझे जरा भी हिचक नहीं है। वे निःसन्देह महान् दार्शनिक हैं। उनके विचारों का अनु-

शीलन करना वर्तमान युग के प्रत्येक सत्यार्थी की, विशेषतः भारतीय सत्यार्थी की, पाठ्य-सामग्री है। जिस पाण्डित्यपूर्ण ढग से पाण्डेय जी ने प्रथम पुष्प में स्पिनोज़ा के दर्शन का व्याख्यान किया था वैसे ही इन्होंने इस द्वितीय पुष्प में गान्धी जी के दर्शन की समर्थनात्मक व्याख्या की है। गांधी-दर्शन के विविध पक्ष हैं। इसकी सर्वतोमुखी मौलिक देनों को एकत्र रखना कठिन कार्य है। पर फिर भी पाण्डेय जी ने इस कठिन कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न किया और माला के साध्यों को पूरा किया है।

आशा है यह कृति शास्त्रचिन्तकों के समक्ष गान्धीवाद के दर्शन को नए ढंग से रखेगी और इस ओर पुनः पुनः अनुशीलन तथा खोज को उत्तेजित करेगी।

रामनाथ कौल
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

प्रस्तावना

महात्मा गान्धी प्रचलित अर्थ में 'दार्शनिक' नहीं थे। अतः साधारण दर्शन के विद्वान् उनको दार्शनिक नहीं समझते हैं, न उनके विचारों के प्रति कोई आग्रह ही प्रकट करते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन के कृती विद्वान् अध्यापक संगमलाल पाण्डेय इसके व्यतिक्रम हैं। इनकी सत्यानुसन्धित्सा साधारण गण्डी से परे है। आन्तरिक श्रद्धा के साथ महात्मा जी के विविध लेखों को पढ़कर दार्शनिक प्रणाली से उनका विश्लेषण करके निपुण तर्क युक्ति के द्वारा इन्होंने दिखलाया कि 'गान्धी का दर्शन भी एक सुसंगत तथा पूर्णांग दर्शन है। इनके सब मतों को नहीं मानने पर भी दर्शन के विद्वान् यह अवश्य ही स्वीकार करेंगे कि 'गान्धी का दर्शन' अध्ययन तथा विचार के योग्य है। पाण्डेय जी की यह कृति दार्शनिक कृतित्व ही का निदर्शन है।

पटना—६
३१-५-५७

धीरेन्द्र मोहन दत्त
भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पटना विश्वविद्यालय

आमुख

I am happy to respond to Sri Sangam Lal Pandey's request to give a preface to his new book, *Gandhi ka Darsan*. His book is one of the first attempts to give a definite form to Mahatma Gandhi's ideas. Even as such, it deserves the attention of all thoughtful readers. But Sri Pandey is, in addition, a budding active philosopher, and he has made a really interesting attempt to place Gandhi among the great religious and philosophical leaders of the world.

It is often questioned whether Gandhi has a philosophy of his own. The same question can be asked about even Socrates, whether he has a philosophy of his own. But Socrates gave a new turn to Greek thought and Plato gave a systematic form to his ideas. The same is the case with Confucius in China, and yet Confucianism has become a philosophy. Gandhi has given a new turn to world's ethical thought and practice. The underlying principles of his thought and practice have got to be studied and systematised. Every such study deserves not only encouragement but thoughtful consideration. I hope that Sri Pandey's book will receive both.

P. T. Raju
University Profeseor of Philosophy and Psychology.
University of Rajputana.

Jodhpur
Aug. 6, 1957

निवेदन

आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व मुझे महात्मा गान्धी की दो कृतियों को अंग्रेजी में आद्योपान्त पढने का अवसर मिला। इनमें से एक थी उनकी आत्म-कथा और दूसरी थी उनकी रचनाओं का संग्रह जिसका नाम अच्छा जीवन (The Good Life) है। मेरे बाल-हृदय तथा मस्तिष्क पर इन रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा। मैं इनके विचारों और आदर्शों में नित्य गोते लगाने लगा। पर इनके दार्शनिक मत को समझने में निः सन्देह मेरी बाल-बुद्धि प्रर्याप्त न थी।

बाद को जब दर्शन-शास्त्र की मुझे शिक्षा मिली, तब मैने गान्धी जी के बारे में लोगों की विभिन्न राये सुनीं। कोई उनको जरा-सा भी दार्शनिक नहीं मानता है तो कोई उनको दबी जबान से दार्शनिक तो कहता है पर शास्त्रीय दार्शनिक नहीं मानता है। कोई उन्हें धार्मिक नेता समझता है तो कोई धर्म के विषय में उन्हें ढोंगी कहता है और उनको मुख्यतः राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ मानता है। कोई उनको महान् रहस्यवादी द्रष्टा मानता है तो कोई धीमी आवाज से उनको रहस्य का ज्ञाता मानते हुये भी स्पष्टतः ऐसा नहीं कहता है। यह सब सुनकर, पढकर, उनके दर्शन को जानने की मेरी इच्छा बढी। इसी बीच व्यावहारिक जीवन की एक आवश्यकता ने भी मुझे उनके दर्शन को पढने तथा लिखने को विवश किया। वह आवश्यकता यह थी। अपने जीवन में मैंने देखा कि जितनी शिक्षा मेरी बुद्धि को मिली है उतनी मेरी भावना और इच्छा को नहीं। इससे मुझे असन्तुलित जीवन का अनुभव हुआ। मैंने सोचा कि भावना और इच्छा को किस तरह शिक्षित, संगठित, करना चाहिये? बुद्धि इनसे अधिक विकसित हो

चुकी थी, अतः उसका तकाजा था कि इनको शिक्षित करने का ढग पहले जानना चाहिए। निदान मै ऐसे दार्शनिकों की खोज करने लगा जिन्होंने बुद्धि के अतिरिक्त भावना और इच्छा को भी संगठित और विकसित किया है। स्पिनोज़ा के दर्शन से इस ओर लाभ हुआ। गान्धी जी की ओर भी इसी कारण और झुकाव हुआ। फलतः उनके साहित्य का यथाशक्ति अध्ययन किया। पढ़ने पर अनेक सत्य बातें ज्ञात हुईं। गान्धी जी मुझे महान् दार्शनिक लगे। मैने देखा कि उनका दर्शन वर्तमान भारत का प्रमुख दर्शन है। इसकी आज बड़ी आवश्यकता है। लोगों के मन में इस दर्शन के बारे में भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इन सब को दूर करने के लिये मैंने इस की शास्त्रीय व्याख्या करने का संकल्प किया जो अब कार्यान्वित हो चुका है। इसका निर्णय तो विवेकी जन ही कर सकते हैं कि मै कहाँ तक गान्धी जी को दार्शनिक मानने में ठीक हूँ और कहाँ तक उनके दर्शन की मैने समीचीन व्याख्या की है। पर मुझे जो लाभ हुआ है वह सन्तोष-प्रद है। जिस चीज को मैं चाहता था वह मुझे मिल गई है। बुद्धि, भावना और इच्छा तीनों को कै संगठित, शिक्षित और विकसित करना चाहिये, यह मुझे गान्धी जी के दर्शन से मिल गया है। यद्यपि अपनी भावना और इच्छा को शिक्षित करने में मैं थोड़ा भी अभी सफल नहीं हूँ पर उनके आदर्श तथा व्यवहार में मेरा दृढ विश्वास है और उस ओर गलती करते हुए कुछ अपनी समझ से बढ भी रहा हूँ।

इस प्रकार बाल-सस्कार, विद्वान् दार्शनिकों की विप्रतिपत्तियाँ, व्यावहारिक मांग तथा नव्य भारत के नव्य दर्शन की अवश्यंभावी अभिव्यक्ति प्रस्तुत कृति के मुख्य हेतु हैं। आशा है पाठक वृन्द इन हेतुओं की दृ ि ट इस कृति का मूल्यांकन करेगे।

इस पुस्तक को लिखने में अपने गुरु प्रो० रामनाथ कौल तथा प्रकाशक श्री राजनाथगर्ग और श्री त्रिलोकीनाथ ग ं का विशेष ऋणी हूँ। कौल साहब के गान्धीवादी विचारों से मुझे प ्त प्रेरणा मिली है। पुस्तक की पाण्डुलिपि को प कर और कतिपय संशोधनों का सत्परामर्श देकर उन्होंने इसमें विशेष रुचि दिखलायी है। उन तथा प्रोत्साहन

के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मुझ अकिंचन के पास मौन मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्री राजनाथ गर्ग और उनके उत्साही सुपुत्र श्री त्रिलोकी नाथ गर्ग ने तो सचमुच इस पुस्तक को लिखवाया ही हैं, अन्यथा मेरे विचार शायद लिपिबद्ध होकर शीघ्र प्रकाशित न हो पाते उनको मै कैसे धन्यवाद दूँ ?

गान्धी-दर्शन आज हमारा राष्ट्रीय दर्शन है। उसकी जो कुछ यहाँ सेवा हो सकी हो, वही शायद इन तीनों सज्जनों को मूक धन्यवाद दे।

दर्शन विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय
महावीर जयन्ती
१२-४-१९५७

सङ्गमलाल पाण्डेय

विषय-सूची



अध्याय १

गान्धी का जीवन-वृत्त

विश्वव्यापी मातम

३० जनवरी १९४८ ईसवी को भारत की राजधानी दिल्ली में एक घटना घटी जिसने समस्त संसार को शोक-सागर में मग्न कर दिया, जन-जन की नेत्र-ज्योति को छीन लिया। ज्ञात इतिहास में आज तक ऐसी कोई घटना नही घटी थी जिसका इतने बड़े संसार में इतने लोगों के हृदय मे इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा हो। यदि कहा जाय कि ऐसी घटना न कभी हुई थी और न कभी होगी, न भूतो न भविष्यति, तो शायद अतिशयोक्ति न होगी, बिलकुल यथार्थ वर्णन होगा।

यह घटना क्या थी? महात्मा गान्धी सायंकाल प्रार्थना- भवन में प्रार्थना करने जा रहे थे। जैसे ही वे भवन में पहुँचे, एक गुमराह नवयुवक ने वैसे ही पिस्तौल से तीन गोलियाँ उनपर चलाईं। फलस्वरूप महात्मा का महाप्रयाण हो गया। उनके अन्तिम शब्द, हे राम, लोगों के हृदय में गूंजते रहे, और शायद सदा गूंजते रहेंगे।

इस पर संसार भर से आवाज उठी—आज मूसा को चिर निद्रा में सुला दिया गया। आज अगियारी में नर संहार ने जरतुश्त की अगियारी को बुझा दिया। आज शिष्यों के समक्ष गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। आज कन्फूसियस ने अपनी इहलीला समाप्त कर

दी। आज महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। आज सुकरात को हलाहल पिलाया गया। आज ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया गया। आज कृष्ण को उनके साथी व्याध ने गोली से मार डाला। आज मुहम्मद का स्वर्गवास हो गया। आज सत फ्रांसिस मतभेदों में पिसकर प्रेम का पाठ पढ़ाते हुए सदा के लिए सो गये। आज हमारा देवदूत ओझल हो गया। आज ईश्वरावतार अदृष्ट हो गया। आज अच्छाई चली गई, सत्य-पक्षी उड़ गया, सत् की मूर्ति रह न गई, ज्ञान उठ गया, नीति भग गई.........। आज.. ......।

भारत के प्रधान मन्त्री, महात्मा गान्धी के शिष्य, जवाहर लाल नेहरू ने सब का सार यों व्यक्त किया— संसार मे जो प्रकाश था, वह आज अस्त हो गया।

जन्म, बचपन, शिक्षा और वकालत

यह प्रकाश २ अक्टूबर १८६६ ईसवी को पोरबन्दर, सुदामापुरी काठियावाड़ मे कर्मचन्द्र गान्धी के घर उनकी चौथी पत्नी पुतली बाई के गर्भ से उनकी सबसे छोटी सन्तति मोहनदास के शरीर मे आया था। पर उस समय यह प्रकट न था। कोई इसको जगद्-व्यापी न समझता था। मोहनदास साधारण बालक की तरह विकास करने लगा। माता-पिता की धार्मिक प्रवृत्ति के कारण वह मंदिर आदि में बचपन से ही जाने लगा। राजकोट की ग्राम पाठशाला से कस्बे की पाठशाला और फिर इससे हाईस्कूल तक पहुँचने में उसके बारह वर्ष पूरे हो गये। हाईस्कूल के समय की एक घटना घटी जिसमें उसने सिद्ध किया कि वह नक्काल नहीं है। इसी समय सत्यवादी हरिश्चन्द्र और श्रवण-पितृ-भक्ति इन दो नाटकों को देखकर उसने सत्यवादिता और पितृ भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की। तेरह वर्ष की अवस्था मे ही कस्तूरबा के साथ उसका विवाह हो गया। वह विषय-सुख में विशेष आसक्त था। विवाह के परिणामस्वरूप उसकी पढ़ाई का एक वर्ष बेकार चला

गया। हाईस्कूल में वह मंद-बुद्धि विद्यार्थी माना जाता था। कसरत में उसकी रुचि न थी, लिखावट अच्छी न थी, रेखागणित समझ में न आती थी, संस्कृत तो और भी कड़ी लगती थी। सारी शिक्षा का माध्यम अंगरेजी थी, गुजराती नहीं जो कि उसकी मातृभाषा थी। अतः उसको समझने में और भी दिक्कत पड़ती थी। कुसग में पड़ जाने से उसे पॉच-छ बार मांस खाना पड़ा। पर गान्धी कुटुम्ब वैष्णव होने के कारण निरामिषहारी था। अत. माता-पिता को धोखा न देने के विचार से उसने मांस खाना अन्त में छोड़ दिया। उसी कुसंग के कारण एक बार वह एक औरत के कमरे में गया, व्यभिचार की इच्छा से। पर उस कमरे में जाते ही वह अंधा हो गया, बोलने का होश जाता रहा। लज्जा से स्तब्ध होकर वह उस स्त्री के पास चारपाई पर बैठ गया, पर बोली न निकली। स्त्री रुष्ट हुई और दो-चार गालियाँ देकर दरवाजे की राह दिखाई। इस बचाव से उसे शर्म तो आई पर बाद को दुख न हुआ। ऐसे ही उसके जीवन में चार और अवसर आए और परमात्मा ने उसको सर्वदा ऐसे ही बचाया। सिगरेट पीने की कुटेव भी उसको पड़ी। पैसा घर से अधिक न पाने के कारण उसे इसके लिए चोरी भी करनी पड़ी। पितृभक्त होने के कारण वह पिता की सेवा करता था। पर एक ओर पितृभक्ति थी तो दूसरी ओर स्त्री-आसक्ति। इन दोनों से वह बधा था। दैवयोग से जिस घड़ी उसके पिता की मृत्यु हुई उस समय वह अपनी स्त्री के साथ था और रुग्ण पिता की सेवा को छोड़कर वहाँ था। ✓

इस प्रकार मोहनदास बिलकुल साधारण था। सब करते-करवाते १८८७ में उसने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की और माता के सामने प्रतिज्ञा करके कि वह मांस, मदिरा और मैथुन से दूर रहेगा, बिलायत मे बारिस्टरी पढ़ने गया।

विलायत मे कानून की पढ़ाई के अतिरिक्त उसने पुरानी और नयी बाइबिलें पढ़ी और उनसे प्रभावित हुआ। कुछ मित्रों के सपर्क

के कारण उसे गीता को भी पढ़ना पड़ा। एडविन आर्नोल्ड के गीता का अनुवाद तथा बुद्धचरित का अनुवाद उसको अत्यन्त पसंद आया। थियासोफिकल सोसाइटी से भी उसका परिचय हुआ और इसका साहित्य पढ़ने को मिला। आचरण की दृष्टि से उसने माता के समक्ष की गई तीनों प्रतिज्ञाओं का पालन किया और सादगी से जीवन बिताया। १८६१ मे वह बैरिस्टर बना, इंग्लैण्ड के हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम दर्ज कराया और फिर उसी साल हिन्दुस्तान लौट आया। आने पर रायचंद्र भाई से परिचय हुआ और उनसे धर्म की प्रेरणा मिली। राजकोट और बम्बई में उसने वकालत शुरू की। एक मामिला पाकर वह नैटाल, दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने अप्रैल १८६३ मे गया। मुकदमे का मुवक्किल दक्षिण अफ्रीका मे रहने वाला एक भारतीय था जिसका नाम सेठ अब्दुल्ला था।

जो प्रकाश अभी तक मद या गुप्त था, वह दक्षिण अफ्रीका में जाकर प्रकट हो गया।

ज्ञानोदय की झलक

इसके उदय होने का एक विशेष समय है, विशेष स्थान है। इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि यही से वह प्रकाश उगता है जिसके अस्त हो जाने पर विश्वव्यापी मातम मनाया जाता है। यहीं से मोहनदास गान्धी का पुनर्जन्म होता है, वे द्विज होते हैं। यहीं से उनका महात्मपन आरंभ होता है जिसके फलस्वरूप पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा बाद को सभी अन्य भारतीयों ने उनको 'महात्मा' की उपाधि दी। अगर कोई गान्धी से पूछे कि उनके जीवन में सबसे क्रान्तदर्शी अनुभव कौन था तो वे इसी प्रकाश के उदय को बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में इसका वर्णन यों है—

"मेरे दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के सात दिन बाद यह मेरे पास आया। मैं वहाँ विशुद्ध स्वार्थी तथा लौकिक विचार से गया था।

नेपाल बन्दर से मैं प्रिटोरिया ट्रेन से जा रहा था। मेरे पास प्रथम श्रेणी का टिकट था, किन्तु विस्तर टिकट नहीं था। मारित्सवर्ग स्टेशन पर जब विस्तर यात्रियों को दिए जा रहे थे, तो गार्ड मेरे पास आया, मुझको उतार दिया और कहा कि 'जाकर माल के डिब्बे में बैठ जाओ'। मैं उस डिब्बे में न जा पाया। गाड़ी मुझे छोड़कर रवाना हो गई, मैं सर्दी में काँपता खड़ा रहा। अब यहीं क्रान्तदर्शी अनुभव होता है। मैं अपने जीवन के विषय मे भयभीत था। किसी तरह अंधेरे प्रतीक्षालय में घुसा। वहाँ एक गोरा था। मैं उससे डरा। मैंने अपने से पूछा—मेरा क्या कर्त्तव्य है ? क्या मुझे भारत वापिस चला जाना चाहिए'? अथवा ईश्वर जो दुःखी का बेली या रक्षक है उसके भरोसे आगे बढ़ना चाहिए और मेरी भाग्य में जो था उसका सामना करना चाहिए ? "मैंने निश्चय किया कि मैं रुकूँ और दु ख भोगूँ। मेरी सक्रिय अहिंसा इसी तारीख से शुरू हुई (रा० पृ० १००)।"

इस तरह मारित्सवर्ग रेलवे स्टेशन गान्धी का गया का वह बोधिवृक्ष हो गया जिसके नीचे आज से २५०० वर्ष पूर्व सिद्धार्थ बुद्ध हुए थे। यहीं गान्धी बुद्ध हुए। पर उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में सिद्धार्थ हुए थे। दीनबन्धु एण्ड्रूज ने लिखा संत पाल की तरह गान्धी द्विजों की श्रेणी में आते हैं। अपने जीवन के एक विशेष क्षण मे उन्होंने मानव आत्मा की भयावह करवट बदली—इसी को हम धर्म-परिवर्तन कहते हैं। काफी रात बीत चुकी थी। वे एक अपरिचित रेलवे स्टेशन पर थे। किसी को जानते नहीं थे। वहीं रात भर वे अपमान सहने के बाद सर्दी से काँपते रहे। अपने भीतर लड़ते रहे...........प्रातः के पूर्व ही उनको प्रकाश मिला। ईश्वर की कृपा से उन्होंने मानव-लीला करने का सकल्प किया (वही पृ० ४६)।"

दक्षिण अफ्रीका में रंग-द्वेष बहुत अधिक था और आज भी है। इसी के फलस्वरूप गान्धी को प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतार दिया गया और तब उनको विचित्र अनुभव हुआ।

इस विचित्र अनुभव में कुछ लोग रहस्यवाद मानते हैं। पर इसे रहस्यवाद बनाना ठीक नहीं जान पड़ता। यह मानवीय अनुभव है। मीराँ की वाणी सत्य है—

दास मीराँ लाल गिरिधर
दुख जहाँ तहाँ पीर।

दुःख में मनुष्य को परमात्मा याद आता है। वह अपने को समझता है, कुछ संकल्प करता है और उसके अनुकूल चलने का प्रयास करता है। अतः ऐसे अनुभवों के बाद जैसे सभी लोग रहते हैं वैसे गान्धी भी रहे। कमाल की तरह उन्होंने मरित्सवर्ग रेलवे स्टेशन पर अनुभव किया।

समझ बूझ दिल खोज पियारे,
आशक होकर सोना क्या ?
जिन नैनों से नींद गवाई,
तकिया लेफ बिछौना क्या ?
रूखा सूखा राम का टुकड़ा,
चिकना और सलोना क्या ?
कहत कमाल प्रेम के मारग,
सीस दिया फिर रोना क्या ?

(द्र० भजनावलि)

बस गान्धी ने यहीं से अपना प्रेम-मार्ग शुरू किया। दक्षिण अफ्रीका में उनके ऊपर और भी अत्याचार किए गए। उनको पीटा तक भी गया, और बिलकुल मरणासन्न कर दिया गया। पर ज्यों-ज्यों उनको दुःख मिलता जाता था, त्यों-त्यों वे कमाल के साथ गा रहे थे—

कहत कमाल प्रेम के मारग,
सीस दिया फिर रोना क्या ?

इस प्रकार गान्धी के जीवन में मारित्सवर्ग की ही सदा पुनरावृत्ति होती रही है। शायद यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस प्रथम

अनुभव के क्षण से अपने निधन तक वे इस प्रकाश से सो नहीं रहे थे। सदैव प्रतिक्षण वे इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक दुःख भोगते गए और इस प्रकाश को और प्राप्त करते गए। अगर कभी इससे वे च्युत हुए तो उन्होंने अपनी भूल मानी और उसका प्रायश्चित्त किया।

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह

मुकदमा समाप्त करके गान्धी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। उन्होंने फोनिक्स में आश्रम की स्थापना की। भारत में आकर दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के पक्ष में प्रबल जनमत तैयार किया। गोखले को दक्षिण अफ्रीका में बुलाया। नैटाल से उन्होंने 'इन्डियन ओपिनियन' नामक पत्र निकालना आरंभ किया जिसने भारतीयों में नव चेतना का सृजन किया। वहीं उन्होंने सत्याग्रह को जन्म दिया। रंग-द्वेष फैलाने वाले कानूनों का उन्होंने अहिंसात्मक ढंग से विरोध किया। अफ्रीकी सरकार ने उनको तथा उनके साथियों को कई बार गिरफ्तार किया। पर सत्याग्रह अन्दोलन चलता ही रहा। भारतीयों ने उनको दिलो-जान से साथ दिया। दक्षिण अफ्रीका में भी अंगरेजों की हुकूमत थी, जैसे भारत में। यहीं से उन्होंने अंगरेजों से अहिंसात्मक ढंग से लड़ना शुरू किया। पर जब जब अंगरेज राष्ट्र पर मुसीबतें आती थीं तब तब वे अपना सत्याग्रह बन्द कर देते थे और अहिंसात्मक ढंग से अंगरेज राष्ट्र की मदद करते थे। इस प्रकार उन्होंने शत्रु को भी मित्र बनाने का सफल प्रयास किया। बहुत से अंगरेज तो उनके अंध भक्त हो चले थे और कहना नहीं होगा कि इन अंगरेजों की बदौलत ही गान्धी को और सफलता मिली क्योंकि उनका नैतिक दबाव इंग्लैण्ड को गान्धी की ओर उन्मुख करता गया। जिस वर्णद्वेषी कानून के प्रति गान्धी ने सत्याग्रह किया, अन्त में वह उनके प्रयत्नों के कारण पारित न किया जा सका।

भारत में सत्याग्रह, स्वतंत्रता-संग्राम और स्वतंत्रता-प्राप्ति

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की विजय करके गान्धी १९१५ में सदा के लिए भारत चले आए। उनके सारे कर्मो का सूत्रपात् दक्षिण अफ्रीका मे ही हुआ और उनकी विजय भी उन्होंने अपनी आँखों से वहाँ देखी। वही पर उन्होंने टालस्टाय, ईसाईमत, इस्लाम और हिन्दू धर्म के मान्य ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। सन् १९०७ से उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का सकल्प किया।

भारत पहुँचते ही उनको सरकार ने 'कैसरे हिन्द' मैडल दिया। अब गान्धी ने भारत-भ्रमण शुरू किया। एक बार तो वे दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नेताओं से मिल चुके थे और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों मे जा चुके थे, पर अब उन्होंने भारत के लाखों गांवों को भी जानने के लिए भ्रमण किया। भारतीय नेताओं के साथ कांग्रेस में कार्य करने का निश्चय किया। गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बनाया। पर राजनैतिक चर्चाओं से अधिक उनका ध्यान समाज-सेवा की ओर गया।

इसी बीच चम्पारन के राजकुमार शुक्ल ने गान्धी से भेंट की और उनको चम्पारन के निलहे गोरों का अत्याचार तथा उनसे अपने मंद संग्राम का परिचय कराया। शुक्ल ने गान्धी को चम्पारन में सत्याग्रह करने का निमंत्रण दिया। गान्धी ने सहर्ष स्वीकार किया। चम्पारन में सत्याग्रह हुआ, निलहे गोरों ने उनको और उनके साथी ग्रामवासियों को डरवाया-धमकाया, पर बाद में भारत सरकार ने गान्धी के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर सत्याग्रह में हस्तक्षेप किया और गोरों के अत्याचार को सदा के लिए कानूनन बन्द करा दिया।

चम्पारन के सत्याग्रह में गान्धी को विशेष बात जो मिली वह सत्य का साक्षात्कार था। वे कहते है कि वहाँ के निवासियों से "और मेरा मिलाप पुराने मित्रों का-सा जान पड़ा। इससे मैंने ईश्वर का, अहिंसा

का और सत्य का साक्षात्कार किया, यह कहना अतिशयोक्ति नही; पर अक्षरशः सत्य है। इस साक्षात्कार में अपने अधिकार का विचार करता हूं तो मुझे लोगों के प्रति प्रेम के सिवा और कुछ नही मिलता (आ० पृ० ५१७)"।

इसके बाद तो गान्धी के जीवन में आन्दोलन करना और जेल जाना तथा देश की आजादी के लिए हर तरह से काम करना ही रह गया। खेड़ा का सत्याग्रह, खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दो- बड़ी बहादुरी से चलाए गए। उनके अन्य आन्दोलनों मे सन् २०-२२ का असहयोग आन्दोलन, सन् ३० की नमक कानून को भग करने वाली डॉडी-यात्रा, सन् ३२-३४ का सत्याग्रह आन्दोलन, सन् ४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन तथा सन् ४२ का 'भारत छोड़ो' अन्दोलन मुख्य हैं। इन अन्दोलनों ने इंग्लैण्ड की जड़ को भारत से बिलकुल उखाड़ दिया और फलस्वरूप १५ अगस्त सन् १९४७ को भारतवर्ष स्वतत्र हो गया।

भारत विभाजन और उसके बाद

पर इस स्वतत्रता में गान्धी को विशेष खुशी न हुई क्योंकि इसमें भारत-माता के भारत और पाकिस्तान नाम के दो टुकडे हो गये थे। गान्धी दक्षिण अफ्रीका से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता और सर्वधर्म-समभाव को मानते थे। सन् २४ में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए २१ दिन का अनशन किया। सन् ४६ के नोआखाली के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में उन्होंने वहाँ पैदल यात्रा की और दोनों कौमों को शान्त कराया। यद्यपि पहले वे पाकिस्तान के प्रबल विरोधी थे, पर अंग्रेजों ने जो बीज जाते-जवाते फेंका था और फलस्वरूप मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने भारत-विभाजन स्वीकार कर लिया था उसके कारण उनको भी देश में सुव्यवस्था और स्वतन्त्रता लाने के लिए विभाजन स्वीकार करना पड़ा। पर विभाजन से लेकर मरण पर्यन्त उनका एकमात्र कार्य हिन्दू-मुस्लिम-

एकता रह गया। उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों में अकसरियत और अकलियत, हिन्दू-मुस्लिम, मिल-जुल कर रहें। इस विषय में उन्होंने भविष्यवाणियाँ भी कीं।

१—"मैं भविष्यवक्ता नहीं हूं। फिर भी मुझे ईश्वर ने अक्ल दी है, मुझको ईश्वर ने दिल दिया है। उन दोनों को टटोलता हूं और आपको भविष्य सुनाता हूं कि अगर हम किसी न किसी कारण से एक दूसरे से (हिन्दू-मुसलमान से) दोस्ती न कर सके, वह भी यहाँ के ही नहीं, पाकिस्तान के और सारी दुनियाँ के मुसलमानों से दोस्ती न कर सके, तो समझ लें, इसमें मुझे कोई शक नहीं है कि हिन्दुस्तान हमारा नहीं होगा, पराया हो जायगा, गुलाम हो जायगा। पाकिस्तान गुलाम होगा, यूनियन (भारत) भी गुलाम होगा और जो आजादी आज हमने पाई है उसे हम खो बैठेंगे (प्रा० २ पृ० ३१५)।"

२—"मैं पाकिस्तान के रहने वालों और जिनको पाकिस्तान का भविष्य बनाना है उनको कहना चाहता हूं कि अगर उनका जमीर (विवेक) जाग्रत न हुआ और अगर वह पाकिस्तान के गुनाह को कबूल नहीं करते तो पाकिस्तान को कभी कायम नहीं रख सकेंगे। इसका यह मतलब नहीं कि मैं यह नहीं चाहता कि हिन्दुस्तान के दोनों टुकड़े अपनी खुशी से फिर से एक हों। मगर मैं साफ कर देना चाहता हूं कि जबरदस्ती से मिटाने का मुझे खयाल तक नहीं आ सकता। मैं उम्मीद रखता हूं कि मृत्युशय्या पर पड़े मेरे यह बचन किसी को चुभेंगे नहीं (प्रा० २ पृ० ३१३)।"

३—"यदि यूनियन (भारत) में अंधेरा हो तो पाकिस्तान में उजाले की आशा करना मूर्खता है, किन्तु यदि यूनियन मे रात मिट जाने का कोई शक नहीं रह जाता तो पाकिस्तान मे भी रात मिट कर ही रहेगी (वही पृ० ३२०)।"

ये वचन गान्धी के मुख से मरण के कुछ दिन पहले ही निकले थे। इनमें महान संकेत भरा है कि भविष्य में भारत और पाकिस्तान

कैसे रहेंगे ? पर इस राजनैतिक प्रश्न की मीमांसा के अन्तराल में जो दार्शनिक समस्या है, उसको हमें अधिक महत्त्व देना चाहिए। गान्धी ने हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी को बराबर माना, सब में एक ही आत्मा या सत्य का निवास स्थान पाया। उनकी इस देन को हमें विशेष महत्त्व देना है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता या सर्वधर्म-समभाव

दादू ने कहा—

जे पहुंचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एकमत, उनकी एकै जात ॥
जे पहुँचे ते पूछिए, तिनकी एकै बात ।
सब साधौ का एकमत, बिच के बारह बाट ॥

जब से शंकराचार्य का इस देश में आगमन हुआ तब से सचमुच सभी सन्तों और दार्शनिकों का एकमत रहा है कि अन्तिम अवस्था जिसे मनुष्य पा सकता है, वह तुरीय है, आत्मज्ञान की स्थिति है। पर इसके साथ ही यह भी धारणा चली आती रही कि इस आदर्श अवस्था के नीचे 'बारह बाट', १२ मार्ग अर्थात् विभिन्न-विभिन्न मत हैं। गान्धी ने इसको अस्वीकार किया। उनका कहना था कि बीच में भी एक ही बाट है। अद्वैतभावना केवल आदर्श ही नहीं, वह यथार्थ भी है। यथार्थ में यदि द्वैतभावना रहे और आदर्श में अद्वैतभावना हो, तब तो सत्य में ही विरोध हो जायगा। अतः गान्धी ने व्यवहार और परमार्थ दोनों में अद्वैतभावना को ही महत्त्व दिया। हमारा यथार्थ अद्वैतभावना पर ही निर्भर होना चाहिए। हमें व्यवहार में भी समता लानी चाहिए। आदर्श एकता को व्यवहार में भी उतारना चाहिए। यह गान्धी की मुख्य शिक्षा रही है और कहना नहीं होगा कि यह भारतीय दर्शन में, अद्वैतवाद में, एक महान् देन है। हमारे वर्तमान समाज को इसी देन की बुनियाद पर खड़ा होना है।

पहले लोग अपने को हिन्दू या तुर्क या खिस्ती या यहूदी आदि ही कहते थे। वे बाड़े में बंटे रहते थे। जो जरा कुछ चालाक हुए, वे दूसरों को अपने बाड़े मे घसीट लाना चाहते थे। इस प्रकार घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन से, संसार एक होता हुआ भी अनेक हो चला था।

कुछ सुलझे लोगों ने इन विचार-धाराओं के खिलाफ आवाज उठायी और कहा कि हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न खिस्ती, न यहूदी, न पारसी, न सिक्ख, और न ऐसा और कोई। पर इनका प्रभाव समाज पर न पड़ा। समाज इनके वावजूद भी घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन करता रहा।

गान्धी ने इस ओर महान् क्रान्ति की। उन्होंने रहस्यवादियों की तरह घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन को तो गलत ठहराया ही, पर अपनी विशेष देन यह दी कि चूँकि मैं सच्चा हिन्दू हूं, इसलिये मैं सच्चा मुसलमान भी हूं, सच्चा ईसाई भी हूं, सच्चा पारसी भी हूं, सच्चा यहूदी भी हूं, और अन्य भी यदि कुछ है तो वही मैं सच्चा हूं। उनका दावा था कि कोई ईसाई या मुसलमान या पारसी या कोई अन्य धर्मावलबी यदि सच्चा है, तो वह सच्चा अन्य धर्मावलबी भी है। इस महान् देन को चतुर्दिक सूर्य की किरणों की तरह पहुँचना है। तभी संघर्ष और विद्वेष दूर होंगे और विश्व में शान्ति स्थापित होगी।

सच्चे हिन्दू

गान्धी कैसे सच्चे हिन्दू थे ! इस विषय की और मीमांसा दूसरे ढङ्ग से करते हुए पट्टाभि सीतारमैय्या ने कहा कि गान्धी ने एक नए समन्वय का विकास किया "जो हिन्दू समाज के चार वर्णों और चार आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गान्धी जी ने अपने व्यक्तित्व मे किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसायी के, युद्ध करने वाले और युद्ध रक्षा करने वाले क्षत्रिय और अन्ततः लोक सेवक के गुणों का एक साथ समावेश किया है। सेवा और प्रेम के द्वारा वे स्मृति-कर्त्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुँच गए हैं। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ,

वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्मों को भी एक साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का जो एकान्तिक समझे जाते थे, सामञ्जस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है (गा० सा० पृ० ७६)।"

चतुर्वर्णी और चतुराश्रमी गान्धी निःसंदेह सच्चे हिन्दू थे। उनके इस रूप के कारण हम उन्हें चारों वर्गो को, धर्मार्थकाममोक्ष को भी प्राप्त करने वाला मान सकते हैं। और यदि इसके मानने में कुछ आपत्ति हो तो यह तो निर्विवाद है कि उन्हें पञ्चमवर्ग अर्थात् भक्ति प्राप्त थी। वे पूर्ण भक्त थे। प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल नियमित प्रार्थना करते थे, व्यक्तिगत ही नही बल्कि सामूहिक भी। प्रार्थना के अनंतर वे प्रवचन देते थे जिसमें अपने समय की घटनाओं और प्रश्नों पर वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रकाश डालते थे और उनके हल का निर्देश करते थे। उनकी प्रार्थना में बौद्ध मन्त्र, वेदवाणी, उपनिषत्, गीता, भागवत, शङ्कराचार्य, कबीर, सूर, तुलसी, नरसी मेहता, आदि अनेक भारतीय सन्तों और कुरान, जेंदा अवेस्ता तथा अंगरेजी के संतों की प्रार्थनाये शामिल रहती थी। इन प्रार्थनाओं का संग्रह आश्रम भजनावलि के नाम से प्रकाशित है।

समाज सेवा

उन्होंने देखा कि ग्रामोद्योग धधों के हट जाने से देश में भयङ्कर गरीबी फैली हुई है। इसको दूर करने के लिए उन्होंने इन उद्योग-धन्धों के पुनर्जागरण का प्रयत्न किया और बहुत कुछ इसमें सफलता भी प्राप्त की। चर्खे का प्रचलन जो आज हम देख रहे हैं, वह सब उनके ही प्रताप का फल है। खादी और स्वदेशी से केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही नहीं मिलती और मिली, बल्कि इससे हमें सामाजिक समता और आर्थिक सपन्नता तथा धार्मिक अनुभूतियां भी मिलती हैं और मिली हैं।

समाज-सेवा की दृष्टि से गान्धी ने अपने को भङ्गी कहा। सुना जाता है कि किसी समय भगवान् ने शूकर का अवतार लिया था और सारी गन्दगी को खा लिया था। गांधी ने वैसे ही समाज की भयङ्कर गन्दगी को मिटाने का प्रयास किया। छुआछूत निवारण, कुष्ठरोगियों की सेवा, स्त्री-सुधार, भाषाओं की प्रगति, गो-सेवा, प्रभृति कार्यो को व्रत समझकर किया। इन सब कार्यो तथा अपने सर्वतोमुखी रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने दो आश्रमों की स्थापना की—एक सत्याग्रह आश्रम साबरमती में और दूसरा सेवाग्राम आश्रम बर्धा में। सेवाग्राम आश्रम उनके सभी कार्यो का भारत में महान् केन्द्र बना। अत. उनको हम 'सेवा ग्राम का संत' भी कहते हैं।

सन्त या महात्मा

'सन्त' इसलिए कि वे मनसा, वाचा और कर्मणा सन्त थे या होने की कोशिश कर रहे थे। इसी का पर्याय "महात्मा" है जिस नाम से वे आज अधिक विख्यात हैं। पर उन्हें अपने महात्मपन का कभी घमंड नही था। उन्होंने कहा है कि यह तो व्यर्थ का बोझा है। इससे उन्हें लाभ के बजाय नुकसान ही हुआ है क्योंकि वे स्वेच्छा से कहीं चल-फिर नहीं सकते थे, लोग उनको घेरे रहते थे। महात्मा न कहकर वे सदा अपने को अल्पात्मा ही कहते रहे। आनन्द के० कुमार स्वामी ने महात्मा को अल्पात्मा का ही विलोम ठहराया है, दुरात्मा का नहीं। (द्र० रा० पृ० ६३-६७)। इस अर्थ मे यदि हम गान्धी के शब्दों को मानें, तो हम उन्हें महात्मा नही कह सकते है। वे वस्तुतः इस अर्थ में महात्मा थे कि वे मन, वचन और कर्म से सदा एक रहते थे। इस अर्थ में भी महात्मा का अर्थ प्रचलित है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येक कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

उन्होंने मन से संकल्प किया कि वे ब्रह्मचारी, सत्यार्थी, अहिंसक, अपरिग्रही और अतस्कर रहेंगे। इसके अनुसार ही उन्होंने अपनी वाणी

बनाई, अपनी कृतियों को लिखा तथा उन पर कर्म किया। उनके पास दुबला-पतला शरीर, चर्खा और उसको चलाने की सामग्री, पहनने को लँगोटी और धोती, ओढ़ने को जाडे में कम्बल और गर्मियों में कुछ नहीं, एक मोटा डंडा, सब काम नियत समय पर करने के लिए एक जेब घड़ी तथा पढ़ने को किन्हीं पुस्तकालयों से कुछ पुस्तकें और लिखने को थोड़े कोरे कागज, डायरी, कलम और दावात को छोड़कर कुछ नहीं रहता था। खाने-पीने की वे वही चीज लेते थे जिसे भारत का गरीब से गरीब किसान पा सकता है। पर खाद्यों और पेयों की मात्रा उनकी गरीब से गरीब किसान की मात्रा से भी कम थी। वे खाने के लिए नहीं जीते थे बल्कि जीने के लिए खाते थे। दूध-पानी के अतिरिक्त वे कुछ नहीं पीते थे। दूध पहले गाय का पीते थे। बाद में उसको छोड़ दिया और बकरी का दूध पीने लगे थे। इसको भी न पाने पर वे इसके स्थान पर कुछ दूसरा सहज प्राप्त नैसर्गिक रस ले लेते थे। बिना सूत काते उन्हें चैन नहीं मिलता था। और इस कारण अपनी आवश्यकताओं भर के लिए वे प्रतिदिन नियमित सूत कातते थे। यह थी उनकी सीधी-सादी रहन-सहन। इसको देखकर और इसके सिद्धान्तों की उनसे पुष्टि सुनकर लोगों ने उनको 'दरिद्र' कहा और उनके दर्शन को 'दरिद्रता का दर्शन' कहा (द्र० गा० स० पृ० १५०)। इसी को शिष्ट भाषा मे लोगों ने कहा कि वे सादगी पसन्द पुरुष थे और उनका दर्शन सादगी और उच्च विचार का दर्शन है।

रचनाएँ और प्रभाव

अपने कार्यो को सफल करने के लिए गान्धी को अखबार नवीसी भी करनी पड़ी। दक्षिण अफ्रीका में वे इण्डियन ओपिनियन अंग्रेजी हिन्दी, गुजराती और तामिल मे निकालते थे। भारत में उन्होंने यंग इंडिया और नवजीवन पत्रों को निकाला। कई हरिजन पत्रों के निकलने की भी उन्होंने व्यवस्था की। आज उनकी विचार-धारा को समझाने वाले हिन्दी में निम्नलिखित पत्र हैं :

१—हरिजन सेवक (अहमदाबाद)
२—भूदानयज्ञ (गया)
३—मगल प्रभात (वर्धा)
४—नयी तालीम (वर्धा)
५—ग्रामोद्योग पत्रिका (वर्धा)
६—कस्तूरबा दर्शन (इंदौर)
७—जीवन-साहित्य (नई दिल्ली)
८—आरोग्य (गोरखपुर)
और ९—नया हिन्द (इलाहाबाद)।

अपने पत्रो मे लिखने के अतिरिक्त गान्धी डायरी लिखते थे और उसमे प्रतिदिन के विचारों का आकलन करते थे। पुस्तकें लिखने को उन्हें वैसे अवसर नही मिलता था, पर जब वे जेल में गिरफ्तार कर लिए जाते थे, तब वे जेल के समय को लिखने-पढ़ने मे ही बिताते थे।

आज हिन्दी मे उनकी मुख्य निम्नलिखित पुस्तके छपी हैं—

(१) आत्मकथा,
(२) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास,
(३) नीति-धर्म,
(४) सर्वोदय,
(५) मंगल प्रभात,
(६) आश्रमवासियों से,
(७) अनीति की राह पर,
(८) ब्रह्मचर्य, दो भाग
(९) प्रार्थना-प्रवचन (दो भाग)
(१०) मेरे समकालीन,
(११) गीता-बोध,
(१२) अनासक्तियोग
(१३) गीता-माता

(१४) पन्द्रह अगस्त से बाद और

(१५) हिन्द स्वराज्य ।

पर गान्धी-साहित्य आज इससे भी बहुत अधिक विशाल हो गया है। गान्धी के साथ काम करने वालों तथा उनके मित्रों ने उनपर बहुत कुछ लिखा-पढा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान युग में गान्धी का साहित्यिक जगत् में वैसे ही महत्त्व हैं जैसे मार्क्स और फ्रायड का समझा जाता है।

युग-पुरुष

गान्धी को कोई राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ समझता है तो कोई संत और महात्मा। कोई उन्हें शिक्षा-शास्त्री मानता है तो कोई समाज-दार्शनिक। कोई उन्हें अर्थशास्त्री कहता है तो कोई उन्हें सीधा-सादा मोढ बनिया। कोई उन्हें हिन्दू कहता है तो कोई ईसाई या मुसलमान।

इस प्रकार लोगों ने उनको विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और समझा। पर सच बात तो यह है कि महात्मा गान्धी ने कोई विषय या शास्त्र अछूता नहीं छोड़ा है। उनका जीवन इतना व्यापक था, उनकी बुद्धि इतनी सर्वतोमुखी थी, उनके साथी इतने विभिन्न रुचि वाले थे कि उन्हें सब प्रकार के विषयों या शास्त्रों के बारे में कुछ-न-कुछ, कभी-न-कभी कहना पड़ा। अतः हमें उनके साहित्य में प्रत्येक शास्त्र की प्रवृत्तियाँ मिल सकती हैं। पर उनका स्वयं का विचार था कि उनकी मुख्य और सर्वसंग्राहक प्रवृत्ति आत्म-साक्षात्कार थी। अतः इसको केन्द्र बनाकर उनके विचारों का जो मण्डल बनेगा वही उनकी मुख्य विचार-धारा को व्यक्त करेगा। उसी के अन्तर्गत उनकी समस्त चिन्तनाओं और कृतियों का स्थान भी सुनिश्चित होगा।

गान्धी ने भारतीय जीवन तथा साहित्य पर अमिट छाप छोड़ी है। वे युग की नवचेतना के मूर्तिमान् पुरुष थे। उनके आत्म-साक्षात्कार या आत्मज्ञान के दर्शन में भी हमें इसका भान होता है। डा०

राधाकृष्णन् ने सही कहा है कि वे अतीत और भविष्य की देहली थे। उनमें अतीत के युगों का समन्वय था और भावी युगों का निर्माण करने की नवशक्ति थी। जो नया युग इस समय पैदा हो रहा है उसके वे ही जनक हैं। हम इसी लिए उन्हें अपने नवजात भारत का राष्ट्र-पिता कहते हैं, 'बापू' कहते हैं।

इस प्रकार साधारण मोहनदास असाधारण युग-पुरुष हो गया। वह यह कह भी गया कि जो उसके लिये शक्य है वह सबके लिये शक्य है। इसी को हम यों कह सकते हैं कि उसके लिए वही शक्य था जो सबके लिए सदा शक्य है। यही नहीं, वह यह भी कह गया कि उसके समान कोई खल, कुटिल, नहीं था। वह व्याध से वाल्मीकि होने वाली घटना का वर्तमान उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक बाल्मीकि का भारत में इतना प्रभाव है कि आज तक वह बना हुआ है, उसी से हमारी अधिकांश परम्पराएं चली हैं। दूसरे बाल्मीकि ने भारत का पुनरुद्धार किया। इस युग-पुरुष के विचार भी रामायणकार के विचारों से कम महत्व के नही है। इसके विचारों का अवगाहन नवयुग के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि रामायण का अपने समय में तथा आज तक था।



अध्याय २

क्या महात्मा गान्धी दार्शनिक थे?

१. गीता के भाष्यकार

गान्धी भगवद् गीता को तत्त्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते थे (द्र० आ० पृ० ८६)। उन्होंने भगवद्‌गीता पर अपना भाष्य भी लिखा जो गीता-बोध के नाम से प्रसिद्ध है। फिर भगवद्‌गीता का उन्होंने अपने भाष्य के अनुसार अनुवाद भी किया जो अनासक्तियोग के नाम से सर्व-विदित है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीता के शब्दों या पदों की अक्षरानुक्रमणिका, उनका स्थल-निर्देश और उनका अर्थ-कोष शास्त्रीय रीति से तैयार किया जो आज गीता पदार्थकोष के नाम से प्रकाशित है। यही नहीं, वे गीता को अपनी माता कहते थे, अपने सभी सिद्धान्तों को गीता से प्राप्त करते थे। वे सदैव गीता का पाठ तथा ध्यान करते थे, उसके अनुसार आचरण करते थे। औरों को गीता कंठ करने तथा उसके अनुसार चलने का उपदेश देते थे।

गान्धी का मत था कि गीता की शिक्षा अनासक्ति है, अहिंसा है, हिंसा नहीं। गीता-विषयक उनके विचार गीता के अन्य सभी भाष्य-कारों से भिन्न हैं। महादेव देसाई ने 'गान्धी के अनुसार गीता' नामक एक मनन करने योग्य ग्रन्थ की रचना करके इस तथ्य की शास्त्रीय रीति से पुष्टि की है। सत विनोबा ने स्थितप्रज्ञदर्शन तथा गीता

प्रवचन लिखकर गान्धी के अनुसार गीतोक्त दर्शन का व्याख्यान किया है। रहस्यवादी विद्वान् दार्शनिक रानडे ने लिखा कि गीता के भाष्यों के जगत् में गान्धी की तीन मौलिक देनें हैं—(१) गीता के युद्ध और घटनाओं का लाक्षणिक या आध्यात्मिक अर्थ, (२) यज्ञरूपी-शरीर श्रम का सिद्धान्त तथा (३) सर्वश्रेष्ठ नैतिकगुण के रूप में अनासक्ति का योग। उनका पुनः कहना है कि इनमें से प्रथम के विषय मे लोगों में मतभेद हो सकता है, पर अन्तिम दो के बारे मे जरा भी शका की गुंजाइश नहीं है (द्र० रान० पृ० ६-६)। इतने पर भी गान्धी को गीता का दार्शनिक भाष्यकार न मानना असंगत प्रतीत होता है।

भारतीय दर्शन मे भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, विवृत्ति आदि रचकर दर्शन का नूतन दिशा-निर्देश करना विशेष उल्लेखनीय बात है। स्पष्ट है कि गान्धी भी इस परम्परा मे आते हैं। हमारे कितने दार्शनिक सिर्फ गीता के भाष्यकार ही हैं। यदि गीता को दर्शन-जगत् से निकाल दिया जाय, उसके भाष्यकारों को दार्शनिक न माना जाय, तो निःसन्देह भारतीय दर्शन का महत्त्व बहुत कुछ कम हो जायगा।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में भी अनेक दार्शनिक सिर्फ पूर्वाचार्यों के भाष्यकार ही हैं। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध दार्शनिक एडवर्ड केयर्ड या अर्न्स्ट कैसीरर को ले लीजिए जो हेगल या काण्ट के भाष्यकार ही हैं। ह्वाइटहेड ने तो यहाँ तक कह डाला कि समस्त पाश्चात्य दर्शन प्लेटो के दर्शन की पाद टिप्पणी ही है।

अतः सर्वत्र दर्शन-ग्रन्थ के मौलिक भाष्यकारों की दार्शनिक संज्ञा रही है। गान्धी भी गीता जैसे दर्शन-ग्रन्थ के मौलिक भाष्यकार होने के कारण दार्शनिक हैं।

२. दर्शन के अध्येता और अध्यापक

यदि दर्शन शास्त्र के अध्येता तथा अध्यापक को ही दार्शनिक कहा जाय तो भी गान्धी दार्शनिक थे। उन्होंने अपने घर, आश्रमों,

गुजरात विद्यापीठ आदि संस्थाओं में दर्शन का उपदेश या प्रवचन दिया है। अपने पत्रों में, हरिजन और यंग इन्डिया में, वे अपने पाठकों को अपने दर्शन की गुत्थियाँ सुलझाते हुए हमारे सामने आते हैं। जो लोग उनके साथ उनके घर या आश्रम में रहे हैं उन्होंने स्वीकार किया है कि गान्धी अपना मत सब को समझाते थे। सार्वजनिक सभाओं में भी वे सिर्फ राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रवचन ही नहीं देते थे, वरन् दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक तथा शैक्षणिक व्याख्यान भी देते थे। यही कारण है कि देश के बहुत से लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् उनके शिष्य हो गये।

जहाँ तक दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का प्रश्न है, वहाँ तक भी हम देखते है कि गान्धी ने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों के कई महनीय ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन किया था। अपनी आत्मकथा में वे कहते हैं कि उन्होंने हरिभद्रसूरि का षड्दर्शन समुच्चय, योगबासिष्ठ का मुमुक्षु-प्रकरण, उपनिषदों, गीता, पातञ्जल योग दर्शन, शंकाराचार्य का पचीकरण, मणिरत्नमाला, विवेकानन्द का राजयोग, नर्मदा शंकर का धर्म-विचार, तुलसीदास का रामायण, आदि भारतीय दर्शन के सुन्दर गन्थों का अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त उन्होंने लोक मान्य तिलक का गीतारहस्य तथा उत्तरी भारत के सन्त-साहित्य को भी पढ़ा। इस्लाम धर्म के ग्रन्थों का भी उन्होंने अध्ययन किया। ईसाइयत के ग्रन्थों को तो उनको इसलिए पठनार्थ दिया गया कि वे उनकी युक्तियों को समझ कर ईसाइयत कबूल कर लें। इन ग्रन्थों मे बाइबिल के अतिरिक्त बटलर की एनालाजी और पियर्सन का मेनी इनफालिबल प्रूफ्स (अनेक अकाट्य प्रमाण) मुख्य थे। इन पुस्तकों मे ईसाइयत की ही सिद्धि के लिये दिए गए तर्को को उन्होंने दूषित पाया। थिआसिफी के सर्वमान्य प्रमाणित ग्रन्थों का भी उन्होंने मार्मिक अध्ययन किया और इससे हिन्दू धर्म में उनकी श्रद्धा बढ़ी। टालस्टाय और रस्किन की कुछेक पुस्तकों का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। प्लेटो की एपालजी (क्षमा-

याचना) को उन्होंने पढ़ा ही नहीं, वरन् उसका अनुवाद भी गुजराती में किया। हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों का भी, वेदों, स्मृतियों, महाभारत और रामायण तथा भागवत का भी ज्ञान उन्होंने अनुवादों की सहायता से प्राप्त किया। उनके सम्पर्क में आने वाले कितने पण्डित दार्शनिक या तत्त्वज्ञ थे। उनसे बातचीत द्वारा, वाद-विवाद द्वारा, भी उन्होंने जीवन के विभिन्न दर्शनों को समझने की सफल चेष्टा की। इस प्रकार गान्धी ने स्वाध्याय के अतिरिक्त वार्तालाप से भी दर्शन का अध्ययन किया।

गान्धी के पठित ग्रन्थों में अधिकांश धर्म तथा नीति के ग्रन्थ हैं। पर इनमें एक भी ऐसा ग्रन्थ नही है जिसमें बहुत कुछ तत्त्वज्ञान और ज्ञानमीमांसा न हो। हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन समुच्चय का ही विधिवत् अध्ययन कर लेने से भारतीय तत्त्वज्ञान तथा ज्ञानमीमांसा का सुन्दर ज्ञान हो जाता है— यह बात सर्वविदित है। फिर इसके अतिरिक्त गान्धी ने गीता तथा भागवत का भी तो अध्ययन किया था। गीता, भागवत और योगबासिष्ठ को कौन दर्शन-ग्रन्थ न कहेगा ? फिर इनके अध्येता गान्धी को कौन दर्शन का विद्यार्थी न कहेगा ?

३. प्रयोगवादी सत्यार्थी

गान्धी सत्यार्थी थे। वे कहते हैं— "मेरा कर्त्तव्य तो...... आत्म दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। (आ० पृ० ५)।" "मैं पुजारी तो सत्य-रूपी परमेश्वर का ही हूं। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं, पर मैं इसका शोधक हूं। इसकी शोध में मैं अपनी प्यारी-से प्यारी वस्तु भी त्यागने को तैयार हूं। ....इस सत्य का साक्षात् न कर लेने तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, अपना दीपक समझकर, उसके आश्रय में अपना जीवन बिताता हूं।..... इस मार्ग पर चलकर अपनी भयंकर भूलें भी मुझे

तुच्छ सी लगती हैं क्योंकि ये भूलें करते हुए भी मैं बच गया हूं और अपनी समझ के अनुसार आगे भी बढ़ा हूं। दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की—ईश्वर की—झाँकी भी हो रही है। सत्य ही है, इसके सिवा दूसरा कुछ भी इस जगत् में नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है (आ० पृ० ६—७)।"

कई बार गान्धी ने कहा था कि वे विशुद्ध आत्म-दर्शन के लिये राजनीति के क्षेत्र में उतरे थे और राजनीति में उनका उतरना उनके आत्म-दर्शन के लिये बहुत हितकर हुआ था। अतः वे सबसे पहले अध्यात्मशास्त्री हैं और उसके बाद अन्य सब कुछ।

उन्होंने अपने समग्र जीवन को ही सत्य का प्रयोग कहा। उनकी आत्मकथा का मूल शीर्षक 'सत्य के प्रयोग' है। वे जन्म भर सत्य का वैसे ही प्रयोग करते रहे जैसे प्रयोगशाला में कोई भौतिक विज्ञानवेत्ता प्रयोग करता है। उन्होंने खूराक पर तथा ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदि गुणों पर व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रयोग किया और प्रयोग में सफलता प्राप्तकर उनका मूल्य इस युग में प्रतिष्ठापित किया।

जैसे भौतिक प्रयोगवाद में संपूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता है वैसे गान्धी ने अपने प्रयोगों के बारे में भी कहा— "अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में मैं किसी तरह की संपूर्णता का दावा नहीं करता।...... मैंने खूब आत्मनिरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जाँचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अंतिम ही हैं अथवा यही सही हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता। हाँ, एक दावा जरूर करता हूं कि मेरी नजरों में ये सही हैं और इस समय तो आखिरी-से लगते हैं (आ० पृ० ५)।"

गान्धी साहित्य का अध्ययन करते समय प्रतीत होता है कि पाठक किसी ऐसे गौतम, कणाद, जैमिनि, व्यास, कपिल तथा पतंजलि के मानसिक जीवन का अध्ययन कर रहा है जो इस समय आध्यात्मिक प्रयोगों के बल पर सत्य-दर्शन की स्थापना कर रहा है। उसका सत्य एक

और अद्वितीय तो है ही, इसके अतिरिक्त वृहत्तर या भूमा भी है। सत्य का अर्थ प्रयोग करते-करते बढ़ता जाता है। क्या ऐसे सत्यार्थी को, ऐसे प्रयोगवादी को, दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है ? गान्धी सच्चे प्रयोगवादी तत्त्वज्ञानी थे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि गान्धी को दर्शन का ज्ञान रूढ़ि तथा परम्परा से हुआ था। उनका दर्शन हिन्दुओं का परम्परागत, रूढ़िगत, दर्शनमात्र है।

पर इस आक्षेप का प्रयोगवाद के साथ मेल नहीं बैठता। प्रयोगवादी परम्परावादी या रूढ़िवादी हो नहीं सकता। यदि रूढ़ि या परम्परा से उसको कुछ ज्ञान मिलता है तो वह उसकी अपनी प्रयोगशाला में परीक्षा करेगा। परीक्षोपरान्त वह उसको तभी मानेगा जब कि वह खरा उतरता है। गान्धी ने तो वस्तुतः रूढ़िवाद को अपने प्रयोगवाद के लिये त्याज्य ठहराया है—"सत्य के आग्रही को चाहिये कि रूढ़ि से चिपककर ही कोई काम न करे और अपने विचार से दृढ़पूर्वक न चिपटे। उसमें दोष होने की संभावना सदा माने और उस दोष का ज्ञान जब हो जाय तब चाहे जितनी बड़ी जोखिम हो, उसे उठाकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी करे (आ० पृ० ४४३)।"

गान्धी ईश्वरवादी अवश्य थे, धर्मनिष्ठ अवश्य थे, पर परम्परावश अथवा शास्त्र प्रमाण मानकर वह यह नहीं थे। परम्परा से उनको जो ईश्वर मिला था वह दूसरा था। उनका ईश्वर वह नहीं था (द्र० छठां अध्याय)। वे अनुभव तथा युक्ति के आधार पर ईश्वरवादी या धर्मनिष्ठ थे।

४. युक्तिवादी

कुछ लोग दर्शन को बुद्धिवादप्रधान या युक्तिप्रधान मानते हैं। उनके मत से युक्ति की प्रधानता न होने से दर्शन शास्त्र दर्शन शास्त्र नहीं कहा जा सकता है, फिर तो वह धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र या रहस्यवाद है।

इस विचारधारा को मानने वाले आपाततः देखते हैं कि गान्धी युक्तिवादी नहीं हैं, या वे युक्ति को प्रधान नहीं मानते हैं। अतः उनके विचार दर्शन के नाम से अभिहित नहीं हो सकते।

यह आक्षेप भी मिथ्यारोप मात्र है। प्रयोगवादी युक्तिवादी न हो, यह असंगत है। फिर जिस व्यक्ति की वकालत में दीक्षा हुई हो और जो अच्छी वकालत कर लेता हो, वह कैसे युक्तिवादी नहीं है ? जिस व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन सार्वजनिक सभा, गोलमेज सभा, काँग्रेस सभा तथा विदेशी शासकों के साथ व्यक्तिगत बैठक में भारतीयता और स्वतंत्रता की दलील देते-देते ही बीता है, वह कैसे युक्तिवादी नहीं है ? फिर जो अपने जीवन के अधिकांश कार्यों में युक्तिवादी है और मनसा, वाचा तथा कर्मणा सदैव एक होने का दावा करता है, वह अपने दर्शन में युक्तिवादी कैसे नहीं है ? जो व्यक्ति अपने दार्शनिक सिद्धांतों पर आस्तिकों तथा नास्तिकों से बहस करते हुए उनकी दलीलों को काटते हुए अपनी दलीलें पेश करता है, वह कैसे युक्तिवादी नहीं है ? निःसन्देह एवंभूत महात्मा गान्धी युक्तिवादी थे, घोर युक्तिवादी थे, यद्यपि वे कोरे युक्तिवादी या बुद्धिवादी न थे।

पर बुद्धिवाद कब अपने को कोरा होने को कहता है ? उसे यदि कहीं से प्रमेय मिल जाय और उसका वह प्रमाण दे दे, तो फिर वह उसमें घुलमिल जाता है।

गान्धी बुद्धि के अनुसार चलने को ही प्रेरित करते हैं। पर वे बुद्धि के मूल तथा फल पर भी विचार करते हैं। बुद्धि के मूल पर विचार करते हुए उन्होंने कहा—"मनुष्य वही करेगा जो उसका हृदय उसे करने को कहेगा। प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि। प्रथम सिद्धान्त और फिर प्रमाण। प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है उसका समर्थन करने के लिए प्रमाण भी ढूँढ़ निकालता है (गी० मा० पृ० ५४१)।"

यदि बुद्धि सोचे कुछ और करे कुछ दूसरा, तो गान्धी उसे कोरा बुद्धिवाद कहते थे, वह हेय है। बौद्धिक विचार की उनकी कसौटी थी उसकी व्यावहारिकता। यदि व्यवहार में आने से, उसपर प्रयोग करने से, उस विचार मे परिवर्तन हो जाता है, तो सच्चे बुद्धिवादी को उसे मानना चाहिए। उनका दर्शन बहुत कुछ अलबर्ट स्वाइत्जर के दर्शन की भाँति है। "दूसरे दार्शनिकों और स्वाइत्जर (तथा महात्मा गान्धी) में सिर्फ इतना फर्क है कि स्वाइत्जर जो कुछ विचार करता है लिखता है, या कहता है, उसपर अपने जीवन में अमल किए बिना नहीं रहता, बल्कि वह विचार ही इस तरह करता है कि उस पर उसे अमल करना है। अब मेरी समझ में आया कि क्यों उसके विचार पाठकों के मन पर अपनी कठोर और भयजनक प्रामाणिकता की छाप डालते हैं। अमल करने का खयाल रखे बगैर आप विचार करते रहें तो सब किस्म की झूठी बातों का विचार करना आसान हो जाता है। अगर आप को पहले से ही इस बात का भान हो कि जो विचार आप करते हैं उस पर आपको जीवन में अमल करना है तो खयाल कीजिए कि कैसी बारीकी से और कितने सच्चे दिल से आप विचार करेंगे" (पं० अ० पृ० १४३)।

इस प्रकार बुद्धि की सहृदयता तथा व्यावहारिकता उसका भूषण है, न कि दूषण।

गोरा लिखित एन एथीस्ट विद गान्धी (गांधी के साथ एक निरीश्वरवादी) नामक पुस्तक के पाठक जान सकते हैं कि गान्धी का उक्त बुद्धिवाद कितना उस निरीश्वरवादी को बुद्धिवाद प्रतीत हुआ था।

अपने युक्तिवाद को महात्मा गान्धी ने स्वयं व्यक्त किया है—

"युक्तिवादी लोग सराहनीय जीव हैं। जब युक्तिवाद सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ होने का दावा करता है, तो यह हेय पिशाच बन जाता है। युक्ति या बुद्धि को सर्वशक्तिमान् कहना उतनी ही बुरी मूर्तिपूजा

है जितनी कि लकड़ी और पत्थर को ईश्वर मानकर उनकी पूजा। मैं बुद्धि या युक्ति (Reason) के दमन की दलील नहीं करता। मैं अपने में छिपे उस तत्त्व को पहिचानने की दलील करता हूं जो बुद्धि या युक्ति को शुद्ध करता है" (यंग इण्डिया अक्टूबर १४, १९२६)।

आज का वैज्ञानिक युक्तिवाद बुद्धि को संपूर्ण तथा सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं मानता है। वह संपूर्णता का दावा नहीं कर सकता, वह सभाव्यता तक ही सीमित है। यही वैज्ञानिक युक्तिवाद गान्धी का भी युक्तिवाद है। इस पर भी जो लोग उनको बुद्धि की उपेक्षा करने वाला रहस्यवादी या धार्मिक मान बैठे हैं, उनको क्या कहा जाय ?

प्रायः गान्धी को जो लोग दार्शनिक मानते हैं, वे उनकी तुलना सुकरात, बुद्ध तथा कन्फूसियस से करते हैं। ये सभी नीतिज्ञ थे। उनको हम नैतिक दार्शनिक ही मानते हैं। इनमें और गान्धी में कुछ फर्क है। गान्धी केवल नैतिक दार्शनिक या धार्मिक ही न थे। उन्होंने तत्त्वज्ञान या तत्त्वदर्शन की इन नीतिज्ञों की तरह उपेक्षा नहीं की, बल्कि उन्होंने तत्त्वदर्शन को ही अपना मौलिक विषय बतलाया।

५. महान् दार्शनिक

दर्शन के इतिहास में बहुत से ऐसे दार्शनिक हैं जो तत्त्वदर्शन और ज्ञान-मीमांसा को तो छोड़ देते है, पर धर्म, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीति, व्यवहारशास्त्र (अर्थशास्त्र) आदि की पर्याप्त मीमांसा करते हैं। ऐसे दार्शनिक बिरले ही है जो दर्शन के समस्त विभागों-उपविभागों पर चिन्तन करते हैं। प्लेटो, अरिस्टाटिल, स्पिनोजा, काण्ट, हेगल. आदि ऐसे ही बिरले दार्शनिक हैं। कहना न होगा कि महात्मा गान्धी का भी स्थान इन्हीं लोगों के वर्ग में है। उन्होंने भी दर्शन के समस्त विभागों उपविभागों पर चिन्तन किया। सब की बुनियादी समस्याओं की मीमांसा की और उन सब को अपने सम्पूर्ण दर्शन का समन्वित अंग बनाया। शिक्षाशास्त्र में उन्होंने वर्तमान

पाश्चात्य तथा प्राचीन प्राच्य शिक्षाशास्त्रों के आधार पर उनके बुनियादी मूलतत्त्वों को लेकर अपना शिक्षाशास्त्र बनाया जिसे आजकल बेसिक शिक्षाशास्त्र कहा जाता है। अगर हम 'बेसिक' विशेषण का यथोचित अर्थ करें और उसके द्वारा बुनियादी मूलतत्त्व का अर्थ लें, तो गान्धी दर्शन की सभी शाखाओं को बेसिक कहा जा सकता है। उनका तत्त्वज्ञान बेसिक था, राजनीति दर्शन बेसिक था, नीतिशास्त्र बेसिक था, धर्मशास्त्र बेसिक था, अर्थशास्त्र बेसिक था, सौन्दर्यशास्त्र बेसिक था, ज्ञान मीमांसा बेसिक थी, एवम् आदि। उन्होंने प्रत्येक शास्त्र के बुनियादी तत्त्वों पर ही अधिक विचार किया। संसार के समस्त दार्शनिकों के सिद्धान्तों से इस ओर उन्होंने शिक्षा ग्रहण की, इन शास्त्रों के परम्परागत वर्तमान व्यवहार या उपयोग की छानबीन की और सब का सार लेकर अपने बेसिक शास्त्र का संकलन किया। संकलन में बुद्धि का उपयोग होता है, हृदय का सहयोग रहता है। इतना करने पर अपने संकलित शास्त्र पर उन्होंने प्रयोग किया, व्यक्तिगत प्रयोग किया, सामाजिक प्रयोग किया और प्रयोग की सफलता के अनुसार उसमें संशोधन तथा परिवर्धन किया। इस प्रकार उन्होंने इन शास्त्रों की अवतारणा बहुत कुछ नवीन ढंग में अपने अनुसार की।

६. गान्धी का वाद

गान्धी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) कहते थे। कभी-कभी वे अपने को अद्वैती भी कहते थे (हि० ध० पृ० ६२)। चूँकि उनका समग्र दर्शन समन्वयात्मक था, इसलिए उन्होंने इसे अपनी पारिभाषिक शब्दावली में स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद भी कहा (व० पृ० ६२-६३)। लोग उनको संत तथा महात्मा कहते थे, वे अपने को भक्त कहते थे। कभी कभी वे अपने को युक्तिवादी तथा प्रयोगवादी या प्रगतिवादी भी कहते थे। अपने वाद को जड़वाद से पृथक् करते हुए उन्होंने कहा— "आज जड़वाद का ही

बोलबाला है और लोग ऐसा समझने लगे हैं कि चैतन्यवाद या आत्मिक बल कुछ है ही नहीं, क्योंकि हम न तो हाथों से उसे छू सकते है और न आखों से देख सकते हैं।

"परन्तु मैं अध्यात्मवादी हूं और मेरे लिए नैतिक बल के सामने पशुबल की कोई कीमत नही है। मैं तो अब भी यही कहूंगा कि पशुबल अस्थायी है और अध्यात्मबल या आत्मबल या चैतन्यवाद एक शाश्वत बल है। वह हमेशा रहने वाला है, क्योंकि वह सत्य है। जड़वाद तो एक निकम्मी चीज है।

"दुर्भाग्य से आज हिन्दुस्तान भी इसमे फंस गया और यह समझने लगा कि जड़वाद ही सब कुछ है। परन्तु मेरा तो अटल विश्वास है कि आखिर मे तो चैतन्यवाद या आत्मवाद की ही विजय होगी (प्रा० १ पृ० १००)।"

यह सब होने पर भी क्या वे दार्शनिक नहीं थे ? अवश्य थे। पर वे स्वयं अपने दर्शन को गान्धीवाद कहना नही चाहते थे। उनके मत से 'गान्धीवाद' नाम की कोई चीज नही है, क्योंकि जिसे लोग गान्धीवाद पुकारते हैं वह सनातन दर्शन का सिद्धान्त है, जिसको लोगों ने युगों पूर्व खोजा था और जिस पर उन्होंने आचरण भी किया था। गान्धी इसी सनातन दर्शन (Perennial Philosophy) को मानते थे। वे इसके शोधक थे, उद्धारक थे। अतः उनकी समझ से इस दर्शन का नाम गान्धीवाद नहीं होना चाहिए (हि० ध० पृ० ४)। उनके सुलझे हुए शिष्यों ने भी इसे स्वीकार किया, क्योंकि यदि इसका नाम गान्धीवाद मान लिया जाय तो यह सिद्ध हो जायगा कि यह सर्वमान्य सनातन दर्शन नहीं है, बेसिक दर्शन नहीं है बल्कि एक व्यक्ति विशेष का दर्शन है जिसका अन्य मत द्वारा प्रत्याख्यान या विरोध सभव है। गान्धीवाद नाम न देने से इस दर्शन की सर्वमान्यता तथा अखण्डनीयता व्यक्त की जाती है। पर युग इससे संतुष्ट होने वाला न था। उसने गान्धी जी के इस अनुदान का दर्शन में दिग्दर्शन किया और

उसे 'गान्धीवाद' का नाम दे ही डाला। यदि सनातन दर्शन के प्रवर्त्तकों या उद्धारकों को कोई सच्चा दार्शनिक कहे तो कह सकता है, क्योंकि उनकी दो देनें होती हैं। एक तो वे अतीत के दर्शन का भावार्थ समझते हैं और दूसरे वे उसके कतिपय सिद्धान्तों को नया अर्थ देते हैं और प्राचीन या परम्परागत अर्थ का बहिष्कार करते हैं। गान्धी ने भी यही किया।

७. आधुनिक दार्शनिकों की सम्मतियाँ

आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने गान्धी को दार्शनिक मानते हुए उनके दर्शन की व्याख्या की है। डा० राधाकृष्णन् ने गान्धी को दार्शनिक ही नहीं वरन् पैगम्बर भी मान लिया—"विनष्टप्राय अतीत के एकमात्र प्रतीक ये (गान्धी) उस नवीन ससार के पैगम्बर भी है जो पैदा होने के लिए प्रयत्न कर रहा है "(रा० पृ० ३५३)।"

"वे (गान्धी) उन अवतारों में से हैं जो मानव जाति के तारक है (व० पृ० ३६०)।" डा० राधाकृष्णन की इन युक्तियों में शायद सत्यांश अक्षरशः नहीं हैं। हम सामान्यतः अवतारी पुरुष को ईश्वर समझ लेते हैं। गान्धी ने ईश्वर होने से इन्कार किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सत्य को छोड़कर उनको ईश्वर कहीं दिखलाई नहीं पड़ा। वे अपने को जीवन्मुक्त भी नहीं मानते। उनका मत विदेह-मुक्ति है। अतः शायद डा० राधाकृष्णन् की उक्तियों का सरल भाषा मे यह अर्थ है कि गान्धी का दर्शन भावी संसार का दर्शन होगा। यदि यह ठीक है तो इसमे बहुत कुछ सच्चाई है। गान्धी का दर्शन दर्शन के सर्वमान्य बुद्धिवादी तत्त्वों का ही विवेचन और उस पर आचरण करना है। अत. यदि कभी ससार को हिंसा से मुक्ति मिली तो वह गान्धी के ऐसे अहिंसक दर्शन को ही अपनाकर मुक्त हो सकता है। इस अर्थ मे गान्धी भावी संसार के ही नहीं वरन् हिंसा-ग्रस्त वर्तमान ससार के भी दार्शनिक है।

डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने गान्धी को कोरा दार्शनिक ही नहीं वरन् संत तथा भक्त मानते हुए सिद्ध किया है कि गान्धी का धर्म दार्शनिक था और उनका दर्शन धार्मिक था।

सभी महान् संतों की भाँति गान्धी के भी ईश्वर के बारे में अपने विचार हैं, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का उनका अपना सिद्धान्त है, उनकी अपनी आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा है, उनकी अपनी आत्मा की अमावस्या है तथा अन्त मे सबके ऊपर उनकी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हैं। इस कारण डा० रानडे ने ठीक ही कहा कि ईश्वर-विषयक उनके विचार दार्शनिकों के भी अध्ययन के योग्य हैं (रान० पृ० ५२)।

अमेरिका के कुछ जिज्ञासुओं को गान्धी का दर्शन समझाते हुए डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भी 'महात्मा गान्धी का दर्शन' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमे उन्होंने गान्धी के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना पश्चिम के महान् दार्शनिकों के सिद्धान्तों से करते हुए उनके दर्शन की युक्ति-युक्त, यद्यपि अत्यल्प, व्याख्या की है। अपने ग्रन्थ भारत का प्रत्ययवादी विचार (Idealistic Thought of India) मे डा० राजू ने भी गान्धी के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों की युक्ति-युक्त विवेचना की है यद्यपि वे गान्धी को शास्त्रीय (Academic) दार्शनिक नहीं मानते हैं (द्र० राजू पृ० २६२)।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में से कइयों ने गान्धी को सच्चे अर्थ मे दार्शनिक मानते हुए उनके एक-दो सिद्धान्तों पर टीका-टिप्पणी करते हुए विवेचन किया है। इनमे से हाकिंग, म्योरहेड, जोड तथा एल्डुअस हक्सले मुख्य हैं (द्र० रा० में इनके लेख)।

इन दर्शनाध्यापकों के प्रयासों से सिद्ध है कि गान्धी दार्शनिक ही नहीं वरन् महान् दार्शनिक थे। अपनी-अपनी रुचि के कारण इन लोगों ने गान्धी-दर्शन के एक विशेष पहलू को ही पकड़ कर दिखला दिया कि गान्धी का अनुदान कम नहीं है। प्रायः इन विद्वानों ने गान्धी को

धार्मिक दार्शनिक, नैतिक दार्शनिक, सामाजिक दार्शनिक तथा राजनैतिक दार्शनिक ही माना है और इनमें से किसी ने भी उनको इतना तत्त्वज्ञानी नहीं माना जितना कि धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दार्शनिक। पर ऊपर के विवेचनों से स्पष्ट है कि गान्धी उतने ही महान् तत्त्वज्ञानी थे, ज्ञानमीमांसक थे, जितने कि धार्मिक, नैतिक या सामाजिक दार्शनिक। उनकी दृष्टि मे तत्त्वज्ञान तथा ज्ञानमीमांसा अन्य मभी शास्त्रों की बुनियाद हैं। वक्ष्यमाण अध्यायों द्वारा यह तथ्य और स्पष्ट हो जायगा।



अध्याय ३

बुनियादी ज्ञानमीमांसा

मानवीय अनुभववाद

गान्धी की ज्ञानमीमांसा बुनियादी ज्ञानमीमांसा है। इसे हम मानवीय अनुभववाद भी कह सकते हैं, क्योंकि इसका विषय उसी प्रकार के अनुभव का विश्लेषण करना है जो मुख्यत. मानव है, पाशव, दानव या अतिमानव नही। यदि हम मानवीय अनुभव पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि पांच इन्द्रियां पशुओं में भी हैं और उनसे प्राप्त ज्ञान मुख्यतः मानवीय नही कहा जा सकता। मानवीय अनुभव यदि पशुओं के ज्ञान से विभिन्न है तो उसके इस विभिन्न अनुभव या ज्ञान के स्रोत भी भिन्न हैं। ये स्रोत बुद्धि, अन्तरात्मा और शास्त्र हैं। इन्हीं तीन उत्सों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उन्हें गान्धी मानवीय ज्ञान कहते हैं। फिर इस ज्ञान पर जब आचरण किया जाता है, जीवन का निर्माण किया जाता है, उससे लाभ उठाया जाता है, तो उसका नाम अनुभव हो जाता है।

मानवीय ज्ञानमीमांसा को आजकल पश्चिम के देशों में प्रायः पाशवीय ज्ञानमीमांसा ही समझा जाता है। मनुष्य और पशु के ज्ञान में सिर्फ मात्रा का भेद किया जाता है, प्रकारता का नही। दोनों के सभी प्रकार के ज्ञान प्रत्यक्षजन्य, गोचरमूलक, इन्द्रियमूलक हैं। कान, नाक, आंख, जीभ और त्वचा से जो ज्ञान हो वही ज्ञान है। ज्ञान का और

कोई साधन या स्रोत नहीं है। इसे हम गोचरवाद कह सकते हैं। आज का मनोविज्ञान या मानस शास्त्र यही गोचरवाद सिखाता है। इसलिए गान्धी ने इसकी उपेक्षा करते हुए कहा— "बहुत से मानस शास्त्रियों ने मुझे मनोविज्ञान की विद्या सीखने को कहा, लेकिन समय न होने की वजह से मुझे दुःख है कि मैं ऐसा कर नहीं पाया" (प० अ० पृ० १३३)।

वर्तमान पाश्चात्य मनोविज्ञान के विरोध में योगियों का अगोचरवाद है। इन लोगों का मत है कि सच्चा ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है और उसको प्राप्त करने का साधन भी ईश्वरीय है। वह ज्ञान अगोचर है और वह साधन अलौकिक है।

गान्धी का मत गोचरवाद और अगोचरवाद के मध्य का है। वे अगोचरवाद तथा गोचरवाद दोनों को मानव के लिए त्याज्य समझते हैं। फिर भी वे दोनो को जोड़ने की भी विचारणा करते है। अगोचरवादी ज्ञान वह साध्य है जो सदा दुष्प्राप्य है और गोचरवादी ज्ञान वह ककहरा है जिसका स्वतः कोई अर्थ ही नहीं है। शास्त्र, बुद्धि और अन्तरात्मा से प्राप्त ज्ञान पर ही गोचरवाद को स्थिति, व्याख्या तथा उपयोगिता हो सकती है। इनसे प्राप्त ज्ञान पर यदि व्यवहार या आचरण नहीं हो सकता, यदि इन पर हम अपने गोचरों का भवन नहीं खड़ा कर सकते, तो वह ज्ञान व्यर्थ है। अतः वह ज्ञान यद्यपि गोचरमूलक नहीं होता, तथापि वह गोचरों का आधार है। मानवीय अनुभव गोचरमूलक नहीं होता, गोचर ही मानवीयानुभवमूलक होते हैं। इस दृष्टि से यह मानवीय अनुभव प्रतिगोचरमूलक (Transcendental) कहा जा सकता है जो काण्ट की ज्ञानमीमांसा का समकक्ष है। फिर चूंकि मानवीय अनुभव सदैव असंपूर्ण तथा संभाव्य ही रहता है, नितांत सत्य या निश्चित नहीं, अतः उसे सदैव संशोध्य मानना चाहिए। पर इसके लिए एक ऐसे लक्ष्यभूत ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है जो नितान्त समरूप हो, एकरूप हो, ताकि उससे इसकी सदा तुलना की जाती रहे; इसका मानदण्ड स्थिर रहे, इसमें प्रगति होती रहे और इसका अधः पतन न होता

रहे। अतः अगोचरमूलक ईश्वरीय ज्ञान को हम अपने प्रतिगोचरमूलक ज्ञान का लक्ष्य बनाकर पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

जब गान्धी कहते हैं कि बुद्धि इन्द्रियों के अनुसार न चले वरन् इन्द्रियाँ बुद्धि के अनुकूल चले, अन्तरात्मा व्यवहार के अनुकूल न हो वरन् व्यवहार अन्तरात्मा के अनुकूल हो, शास्त्रीय ज्ञान लौकिक ज्ञान के अनुकूल न माना जाय वरन् लौकिक ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान के अनुकूल किया जाय, तब उनका यही मत है। उनके मत से इन्द्रियों के अनुसार बुद्धि को चलाना 'बहशियाना' है (द्र. प्रा. १ और २ सर्वत्र)। यह दोष है। फिर जो लोग कहते है कि उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, पूर्णप्रज्ञ हो गये है, उनके प्रति गान्धी ने कहा कि वे 'भुलावा दे रहे हैं (गी० मा० पृ० २५२)। वस्तुतः मानवी बुद्धि पूर्णप्रज्ञ नही हो सकती है, उसकी अंहता नष्ट नही हो सकती है। अतः वह सत्य या ईश्वर का साक्षात् दर्शन पूर्णतया नहीं कर सकती है। वह केवल उसकी ओर बढ़ सकती है, पर उसको पा नहीं सकती। इसीलिए गान्धी ने कहा "मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देखा है" (प० अ० पृ० १३४), मुझे मृत पुरुषों (पितरों) की आत्मा से कभी कोई सन्देश-संकेत नही मिला" (हि० ध० पृ० २८), "मेरे पास कोई जादू की लकड़ी नहीं है" (प्रा० १ पृ० ३५१), "कुछ ऐसी वस्तुएँ अवश्य हैं, जिन्हें आत्मा ही जानती है और वे आत्मा मे ही शान्त हो जाती हैं। पर ऐसी वस्तु का देना मेरे बूते के बाहर है (आ० पृ० ५)", आदि। और "हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं है, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसी से पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमे अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई। यदि हम अपूर्ण है तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म सपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते है (ध० नी०

पृ॰ १५८)"। पर "अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, चाहे वह कितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है पुरुषार्थ है वही पृ० १३४)"।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्श की जानकारी ज्ञान है और उसको यथाशक्ति समधिक रूप से आचरण में उतार कर उसकी जानकारी प्राप्त करना अनुभव है। ज्ञान और अनुभव का इस प्रकार विवेक कर लेने पर कहा जा सकता है कि गान्धी किसी अद्वैत प्रतिगोचर वस्तु को जानते थे और उसपर यथाशक्ति अभ्यास करने से उसका उन्होंने अनुभव भी किया था। ज्ञान की कसौटी अनुभव है। जिस ज्ञान का अनुवाद अनुभव में कुछ न हो सके, वह व्यथ है। ज्ञान का पूर्ण अनुवाद अनुभव में होना अशक्य है। अतः अधिक-से-अधिक ज्ञान के समीपतर होना ही अनुभव है। गान्धी प्रायः कहते है कि मैं अमुक बात अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। यहाँ अनुभव का यही अर्थ है।

अब क्रमशः इसके तीन उत्सों, अन्तरात्मा, बुद्धि तथा शास्त्र का निरूपण किया जायगा।

अन्तरात्मा

गान्धी अन्तरात्मा से सभाषण करते थे, वे प्रश्न पूछते थे और उनको उत्तर मिलता था। अथवा उनको इससे आदेश मिलता था और वे उसका पालन करते थे। इस संभाषण की दो घटनायें उनके जीवन मे घटी थी। एक १६३३ मे और दूसरी १६२८ मे। दोनों का सबन्ध छुआछूत निवारण से था। दोनों अवसरों पर गान्धी को आदेश मिला कि वे अमुक दिन से अमुक दिन तक २१ दिन का उपवास अछूतों की समस्या को सुलझाने के लिए करें। इन अवसरों पर गान्धी की अन्तरात्मा की पुकार की चर्चा दुनिया भर में थी। पहली बार का वर्णन यों है—हरिजनों को स्वतंत्र या पृथक् निर्वाचक वर्ग करने के लिए ब्रिटेन

के प्रधान मंत्री रैमजे मैकडानल्ड ने जो निर्णय दिया था, उसके विरोध में गान्धी ने १६३३ में ८ मई दोपहर से २६ मई दोपहर तक २१ दिन का उपवास किया। देश भर में उक्त निर्णय से हलचल मची थी। कुछ नेता पक्ष में थे, कुछ विपक्ष मे। हरिजनों के सुधार-उत्थान के लिए गान्धी के हृदय मे भी कई दिनों पूर्व से हलचल मची थी। वे उसका सामना कर रहे थे। पर वे रैमजे मैकडानल्ड के निर्णय के विरोधी थे और चाहते थे कि इसका तगड़ा विरोध होना चाहिए। पहली मई को उनकी अन्तरात्मा से एक जबरदस्त आवाज उठी "तुम इसे क्यों नहीं करते हो।" उन्होंने इसका विरोध किया जो विफल हो गया। अन्त मे उन्हें २१ दिनों का बिना किसी शर्त का अखण्ड उपवास करने का संकल्प करना पड़ा। यह उपवास अपनी आत्मशुद्धि के लिए था, मित्रों की आत्मशुद्धि के लिए था, समाज की आत्मशुद्धि के लिए था। इस उपवास के फलस्वरूप देश भर के पक्षी तथा विपक्षी नेताओं ने गान्धी को आश्वासन दिया कि वे हरिजनों के पृथक् निर्वाचक वर्ग बनाने के निर्णय का विरोध करेंगे। निर्णय का विरोध हुआ और यह विरोध सफल हुआ। इस अवाज को गान्धी अन्तर्नाद, ईश्वर की आवाज़, सत्य की आवाज, अन्तरात्मा (Conscience) की आवाज या शान्त धीमी आवाज कहते थे। कभी-कभी वे इसे अपनी छठी इन्द्रिय (Sense) कहते थे। 'जब किसी अवसर पर इसके इस्तेमाल की मांग उठती है, मेरी छुठीं इन्द्रिय जग जाती है और अपना काम करके फिर सो जाती है" (सु० पृ० १३३)।

कितनी ही बार गान्धी को अपना यह अन्तर्नाद सुनाई पड़ा था। जिस साधन या उत्स से यह निकलता है उसे कभी-कभी वे कान्शंस (अन्तरात्मा) और कभी-कभी ईश्वर कहते हैं। उनका मत है कि "हमारे वैदिक धर्म के मुताबिक कान्शंस सभी मे (जड़-चेतन मे) होता है। पर बहुतों का कान्शंस सोया हुआ रहता है, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा मूढ़ अवस्था मे होती है। तो उस अवस्था मे उसे कान्शंस कैसे

कहा जाय ? हमारे धर्म के अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा तब जाग्रत् होती है जब यम-नियमादि का पालन और दूसरी भी बहुत-सी चेष्टा आदि करे" (प्रा० १ पृ० १७४)। और "हम यह नहीं मानते कि प्रत्येक व्यक्ति के कान्शंस होता है। पश्चिम में यह बात मानते हैं। व्यभिचारी के लिए, लपट के लिए, कान्शंस क्या हो सकता है ? . ...हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है कि अन्तर्नाद सुनने के लिए अन्तर्कर्ण भी चाहिए, अन्तर्चक्षु भी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए संयम की आवश्यकता है। इसलिए पातञ्जल योग दर्शन में योगाभ्यास करने वालों के लिए, आत्मदर्शन की इच्छा रखने वालों के लिए, पहला पाठ यम-नियमादि पालन करने का बताया है (मे० पृ० २३२)।"

इन अवतरणों से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

१—गान्धी को अन्तरात्मा से कुछ ज्ञान मिलता था।

२—यह अन्तरात्मा मनुष्य की सच्ची आत्मा है। यही अन्तर्यामी ईश्वर है। यही सर्वत्र जड़-चेतन में व्याप्त है। पर यह सर्वत्र स्फुट नहीं है।

३—यह ज्ञान केवल शब्द ही का नहीं वरन् रूप आदि का भी है। अन्तर्कर्ण और अन्तर्चक्षु का प्रयोग इसी हेतु से किया गया। कभी गान्धी कहते हैं कि उन्हें ईश्वर का सान्निध्य स्पर्श हुआ है। इसको हम समझ सकते है कि यह इसी अन्तरात्मा का स्पर्शज्ञान है। तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मा चक्षु, श्रवण, घ्राण रसना और त्वक् इन पाँच इन्द्रियों से पृथक् छठीं इन्द्रिय है और पाँचों इन्द्रियो के रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श का ज्ञान दे सकती है।

४ - यह ज्ञान नैतिक भी है। यह कर्त्तव्य का बोधक है और अकर्त्तव्य का निवारक है।

५ - यह ज्ञान नितांत सही है। यह प्रमा है।

६—यह, संयम द्वारा, आत्मशिक्षण द्वारा, यम-नियमादि के पालन से उपलब्ध होता है और हो सकता है। जो सयम नहीं करता, उसे इसकी प्राप्ति नही हो सकती है। व्यभिचार से, असंयम से, यह इतना मन्द हो जाता है कि इसके अस्तित्व का भी भान नहीं होता है। अतः व्यभिचारी पुरुषों में अन्तरात्मा का अस्तित्व होते हुए भी माना नहीं जा सकता है।

७—सभी संयमी पुरुषों को यह ज्ञान हो सकता है। यह कोई गान्धी की ही विशेषता नहीं है। जो एक के लिए शक्य है वह सब के लिए शक्य है" (आ० प्रस्तावना पृ० ५)।

८—यह ज्ञान अहैतुक आदेश (Categorical Imperative) है, इसका पर्यवसान सकल्प तथा निश्चित कर्म में होता है। इस ज्ञान के अनन्तर इसके आदेशानुसार कर्म करना पड़ता है और उसे पूर्ण रूप से निबाहना पड़ता है।

९—अन्तरात्मा साक्षात् आत्मा है। यह बुद्धि नहीं है। बुद्धि इसका ही अनुसरण करती है।

१०—यह ज्ञान स्फुरण है।

११—इसकी प्राप्ति के पूर्व हृदय-मन्थन होता है, हलचल होती है, और इसकी प्राप्ति के पश्चात् प्रसन्नता, आनन्द तथा अविचलता की अनुभूति होती है।

यद्यपि यह सब स्पष्ट था, तथापि उक्त उपवास के अवसर पर जब गान्धी ने कहा कि उन्हें अन्तरात्मा से ज्ञान मिला है, तो बहुतों को उलझन हुई और उन्होंने उनसे प्रश्न किया। गान्धी ने सब को यों उत्तर दिया—

"वह क्या थी ? मैंने क्या सुना ? क्या मैंने किसी पुरुष को देखा ? यदि नहीं, तो आवाज मुझ तक कैसे आई ? ये प्रसङ्ग प्राप्त प्रश्न हैं। मेरे लिए ईश्वर की आवाज, अन्तरात्मा की आवाज, सत्य की आवाज, अन्तर्नाद या शान्त धीमी आवाज, सब का एक ही अर्थ है।

मैंने कोई आकार नहीं देखा। मैंने ऐसा करने का कभी प्रयास भी नहीं किया, क्योंकि मैंने सदा विश्वास किया है कि ईश्वर निराकार है। किन्तु जिसे मैंने जरूर सुना था, वह सुदूर तथा अत्यन्त समीप की आवाज की तरह थी। यह उसी तरह भ्रान्तिमुक्त थी जैसे कोई मानवीय आवाज मुझसे निश्चित रूप से बोलती है। यह अत्याज्य थी। जिस समय मैंन आवाज को सुना उस समय मैं सपना नहीं देख रहा था। इस आवाज के सुनने के पहले मेरे अन्दर भयकर सघर्ष हुआ था। अचानक आवाज मेरे पास आई। मैंने सुना, निश्चिय किया कि अन्तर्नाद ही है और तब संघर्ष शान्त हुआ। मैं शान्त हुआ। मैंने तदनुकूल सकल्प किया, उपवास की तिथि तथा घण्टों को निश्चित किया। आनन्द मुझमें छा गया। यह ११ और १२ बजे के बीच अर्धरात्रि में हुआ। मुझे नई शक्ति मिली। मैं इसके बारे में नोट बनाने लगा। ...

क्या मैं कुछ और साक्ष्य दे सका कि मैंने जो सुना वह सच्चा अंतर्नाद था और वह मेरी ही प्रचण्ड कल्पना की प्रतिध्वनि न थी ? संदेह करने वाले को सन्तुष्ट करने के लिए मेरे पास और कोई साक्ष्य नहीं है। वह यह कहने में स्वतन्त्र है कि यह सब आत्मवंचना या प्रतिभास (Hallucination) था। यह ऐसा अच्छी तरह से हो सकता है। इसके विरोध मे मैं कोई दलील नहीं दे सकता। किन्तु मैं यह कह सकता हूं कि मेरे खिलाफ समस्त संसार का एकस्वर से निर्णय भी मुझे अपने इस विश्वास से हिला-डुला नहीं सकता कि मैंने जो सुना वह ईश्वर की सच्ची आवाज है।

किन्तु कुछ लोग सोचते हैं कि स्वयं ईश्वर हमारी ही कल्पना की कृति है। यदि यह मत सत्य है तो कोई चीज सत् नहीं है, हर चीज़ हमारी कल्पना मे ही है। इतने पर भी, जब तक मेरी कल्पना मुझ पर आधिपत्य रखती है, तब तक मैं इसके जादू के वश सिर्फ काम कर सकता हूं। सबसे सत् वस्तुएँ केवल अपेक्षया ही सत् हैं। मेरे लिए यह आवाज, अन्तर्नाद, मेरे अपने अस्तित्व से अधिक सत् थी।

इसने कभी मेरा संग नहीं छोड़ा, और इसी तरह, किसी अन्य का भी कभी संग नहीं छोड़ा।

"हरेक आदमी जो इच्छा करता है, इसको सुन सकता है। यह प्रत्येक मे है। किन्तु अन्य सभी वस्तुओं की तरह इसे पूर्व तथा सुनिश्चित तैयारी (संनद्धता) की अपेक्षा है (हि० ध० पृ० १०७-१०८)।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गान्धी अन्तरात्मा से उसी वस्तु को समझते थे जिसे अद्वैतवादी आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। अन्तरात्मा की आवाज वस्तुत आत्मज्ञान की झलक है जो सब को प्रयत्न करने पर हो सकती है। उनका अन्तर्नाद रहस्यवादी कबीर का अनाहत नाद (अनहद नाद) नहीं है। यह रहस्य या गुह्य नही है। यह बुद्धिगम्य है, सर्वसुलभ है।

डा० राधाकृष्णन् ने इस प्रश्न को उठाते हुए कहा "क्या गान्धी को ईश्वर से जवाब मिलता था ? नही और हाँ। नही, क्योंकि गान्धी अत्यन्त राजगुह्य अथवा अत्यन्त दूरस्थ आवाजों द्वारा कही गई कोई बात नही सुनते हैं। हाँ, क्योंकि उनको जवाब की बुद्धि होती है, उस व्यक्ति की-सी तृप्त तथा तुष्ट भावना होती है जिसने कि जवाब पा लिया है। जो जवाब उनको मिलता है वह इतना अधिक युक्तियुक्त होता है कि उसके स्वरूप से ही वे जान जाते है कि वे स्वप्न तथा प्रतिभास के शिकार नही हैं (रा० पृ० १५)।

डा० रानडे ने गान्धी के अन्तर्नाद के सिद्धान्त पर रहस्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार पर्याप्त विचार किया है। उनके अनुशीलन के अनुसार गान्धी के अन्तर्नाद तीन कोटि के हैं-- (१) अन्तरात्मा की आवाज सुनना, (२) अन्तरात्मा की आवाज सुनना, पर उसके शब्दों का ज्ञान न होना और (३) अन्तरात्मा की आवाज सुनना तथा उसके शब्दों को भी अच्छी तरह से जानना अर्थात् अन्तरात्मा से संभाषण करना, उसकी आवाज को भली भाँति स्पष्टता पूर्वक सुनना। १९३३ और १९३८ मे गान्धी ने तीसरी कोटि का अन्तर्नाद सुना था।

१६४० और १६४८ में उन्होंने दूसरी कोटि का अन्तर्नाद सुना। सन् १६२१, १६२५, १६३३, १६३६ आदि में उन्होंने प्रथम कोटि का अन्तर्नाद सुना। इन तीन कोटियों में तारतम्य है। प्रत्येक में भी सान्द्रता और दीर्घता का तारतम्य है। सबसे पहले गान्धी को बहुत ही अस्पष्ट तथा मन्द आवाज सुनाई पड़ती थी। ज्यों-ज्यों इसको सुनने का उनका प्रयत्न बढ़ता गया, त्यों-त्यों वे इसको अधिक स्पष्टता पूवक सुनते गए (द्र० रान० पृ० ७३)। रानडे का कहना है कि यद्यपि गान्धी कभी-कभी रहस्यमय चक्र देखते हैं, (वही पृ० १५), कभी-कभी ज्योतिस्तम्भ देखते हैं (वही पृ० ७३), तथापि वे द्रष्टा की अपेक्षा श्रोता अधिक हैं (वही पृ० ७३)। द्रष्टा, स्प्रष्टा और श्रोता— सभी दार्शनिक हैं, रहस्य के ज्ञाता हैं। ज्ञान चाहे दृष्टि से हो, चाहे श्रवण से, दोनों का मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और रहस्यवादी मूल्य समान ही है। दर्शन, स्पर्शन, संभाषण सभी वास्तव मे दर्शन ही है। हमारे यहाँ दर्शन का अर्थ केवल 'दर्शन या दृष्टि' ही नही वरन् स्पर्शन, श्रवण, सभापण, घ्रीण, रसन भी है। दर्शन वस्तुत सब का अर्थ देता है। गान्धी अन्तर्नाद के अन्तर्गत सब को शामिल करते है। डा० रानडे ने अन्तर्नाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए कहा कि अनुभव की सफलता, बुद्धि की स्थिरता तथा श्रुत शब्दों की परमार्थ के साथ योजना — ऐसी कसौटियाँ है जो सिद्ध करती हैं कि अन्तर्नाद का श्रवण-संभाषण मिथ्या भ्रम नहीं है (वही पृ० ७६)।

इस प्रकार जहाँ डा० राधाकृष्णन् गान्धी के अन्तर्नाद को संभव और असंभव दोनों बताते है वहाँ डा० रानडे उसकी असभावना का निराकरण कर देते है और उसे संभव ही नही वरन् पूर्णतया उपलब्ध मानते है। डा० राधाकृष्णन् अन्तर्नाद के श्रोता की मनोवैज्ञानिक मुद्रा को महत्त्व देते प्रतीत होते है तो डा० रानडे अन्तर्नाद को श्रोता से स्वतत्र मानते हुए उसको विषयगत सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि यह नाद सदा होता रहता है— अन्तः प्रवर्तेत सदा निनाद. (शकराचार्य-योगतारावली)— चाहे कोई सुने या न सुने। डा० रानडे गान्धी

के शब्दों को सत्य मानते हैं (रान० पृ० ७६) और इस कारण वे उनके अन्तर्नाद की ठीक व्याख्या करते हैं। अन्य लोग गान्धी को उतना बड़ा रहस्यवादी मानने को तैयार नहीं है। पर यह गान्धी के शब्दों का अनर्थ करना है। डा० रानडे की व्याख्या सही समझी जा सकती है बशर्ते कि हम इसको ठीक तरह से समझें। यदि हम अन्तर्नाद करने वाली अन्तरात्मा को विरले पुरुषों मे ही मानें और सर्वसाधारण में इसके अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करें, तब डा० रानडे की व्याख्या का अनर्थ होगा और इस हालत में वह त्याज्य है। इसे समझने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि यह सर्वसुलभ है, यह सकल अनुभवों की आधारभूत शिला है और अस्पष्ट रूप से सबके ' मैं हूं", "मेरा यह कर्त्तव्य है", इन अनुभवों मे प्रकट रहती है। ऐसा समझ लेने पर हम कह सकते हैं कि अन्तरात्मा की आवाज सूझ, अन्तर्दृष्टि या प्रतिभा से प्राप्त प्रातिभ ज्ञान (Intuitive knowledge) है। यह आत्मा का अपना अपरोक्ष तथा अव्यवहित ज्ञान है। इसी का बुद्धि अनुवर्तन करती है। अतः यद्यपि यह ज्ञान बौद्धिक है अर्थात् युक्तियुक्त है तथापि यह बुद्धि द्वारा ज्ञात नहीं होता है। बुद्धि इसकी प्रामाणिकता का खण्डन नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं इसी पर अवलंबित है। आधार स्वरूप इस ज्ञान के खण्डन पर तो बुद्धि का ही खण्डन हो जायगा, नीव गिर जाने पर कहीं घर खड़ा रह सकता है ? इसीलिए यद्यपि गान्धी बौद्धिक ज्ञान को सदैव अपूर्ण तथा सभाव्य ही मानते हैं, तथापि वे इस आत्मीय ज्ञान को सपूर्ण, सुनिश्चित और अकाट्य मानते हैं। बेलिअल के मास्टर, आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक लिण्डसे का इस विषय पर गान्धी जी के साथ बड़ा विवाद हुआ। लिण्डसे के साथ आक्सफोर्ड के अन्य दार्शनिक भी थे। लिण्डसे ने बार-बार निवेदन किया कि "ईसा के नाम पर मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप सोचें कि सम्भवत. आप भ्रान्त हो सकते हैं। श्रीमान् गान्धी ! इसे संभाव्य समझिए कि आप भ्रान्त हो सकते है (रा० पृ० २६६)"। इस मे गान्धी

ने तनिक भी ढिलाई न की । सारी मानवता ही चाहे क्यों न उनके खिलाफ तर्क करे, पर वे अपने आत्म ज्ञान को संभाव्य नहीं मान सकते थे। तर्क द्वारा वे सदा उत्तर देते रहे कि यद्यपि अन्य समस्त ज्ञान सभाव्य है पर यह आत्म-ज्ञान नितांत सत्य है । अनः जब वे एक ओर कहते हैं कि मानवी बुद्धि सदैव अपूर्णता तक ही सीमित है और दूसरी ओर कहते हैं कि आत्मज्ञान नितात सत्य है, सपूर्ण सत्य है, अकाट्य है, तो विरोध नही है। जैसे डेकार्ट तथा काण्ट और शंकर आत्मा को असन्दिग्ध तथा नितांत निश्चित सत् मानने है वैसे गान्धी भी अपने अन्तर्नाद, आत्मज्ञान को नितांत सत् मानते हैं। जैसे किसी विशिष्ट शास्त्र की आधारभूत स्वयंसिद्धयॉ या मान्यतायें उस शास्त्र के लिए नितांत सत्य होती है, वैसे बुद्धि के सकल प्रपच के लिए इसके आधारभूत आत्मज्ञान को गान्धी निनांत सत्य मानने हैं।

लोग शंका कर सकते है कि डेकार्ट, काण्ट तथा शकर आदि ने तो तर्कत आत्मा की अखण्डनीयता तथा सर्वमान्यता सिद्ध की, पर गान्धी ने तो उसे अपने कर्मक्षेत्र मे सीखा और कर्म द्वारा ही अखड-नीय तथा सवमान्य सिद्ध करने की कोशिश की। यह शंका काफी दुरुस्त है। इसका उत्तर यह है कि गान्धी अपनी आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण भान कर्म-क्षेत्र मे ही पाते हैं। जैसे योगी समाधि मे आत्मा को जानता है, तार्किक तर्क मे जानता है, भक्त भक्ति मे जानता है, आधु-निक अस्तित्ववादी रुग्णावस्था तथा दु ख मे जानते हैं, प्राचीन कर्म काण्डी यज्ञादि में जानते थे, वैसे गान्धी अपनी आत्मा के अस्तित्व का सपूर्ण ज्ञान सामाजिक कर्म करते-करते जानते थे। यह उनके दर्शन की अपनी विशेषता है । इस तथ्य को समझ लेने पर फिर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे क्यों आत्मज्ञान को अन्तरात्मा की पुकार या आवाज या अन्तर्नाद कहते थे ? जो लोग इस प्रणाली को न समझेंगे वे कहेंगे कि अन्तर्नाद, अन्तरात्मा, आत्मा और परमात्मा सभी परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं और गान्धी ने सब को अभिन्न करके गोरखधन्धा खड़ा कर

दिया है। जितना ही बड़ा भयंकर सामाजिक काम करने को कोई व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा बीड़ा उठाता है, उसको उतना ही अधिक ज्ञात होता है कि नीतिज्ञों की अन्तरात्मा (कान्शंस), भक्तों का परमात्मा, दार्शनिकों की आत्मा तथा योगियों का अन्तर्नाद कर्म की दृष्टि से एक ही वस्तु के विभिन्न नाम है। मूलतत्त्व आत्मज्ञान है। जो व्यक्ति अपने को जितना ही अधिक सयमी बनाता है, अपने संकल्प को जितना ही अधिक प्रबल और अकाट्य बनाता है और उस पर जितनी अधिक लगन से सतत कर्म करने का व्रत लेता है, उसे उतना ही अधिक गान्धी की अन्तरात्मा का अन्तर्नाद सुनने मे आ सकता है।

अन्तरात्मा अनिवार्यत. कर्मोन्मुख है यद्यपि वह प्रधानतः ज्ञान-स्वरूप है। अतः कर्मठता में ही उसका सच्चा ज्ञान सभव है (द्र० नव्य कर्म-मार्ग, चौथा अध्याय)।

अन्तरात्मा को ही गान्धी कभी-कभी दिल या हृदय कहते हैं। अन्तःकरण या अन्तस्तल भी इसी का अपर नाम है। यह भावनामय होता है। अतः इसको कभी-कभी वे भावना भी कहते हैं। भावनाएँ मौलिक, विकृत तथा सम्मिलित— तीन प्रकार की मानी जाती हैं। सामान्यत. सभी भावनाओं या वेदनाओं मे सवित्तियां रहती है, संवेद रहता है, ज्ञान रहता है। यही प्राथमिक ज्ञान है। इसके अभाव में अन्य प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व ही संदिग्ध है। सभी भावनाओ में आत्म-भावना, आत्म-प्रतीति या आत्म-प्रत्यक्ष निहित रहता है। पर मौलिक भावनाओ में वह साधारण रूप से स्फुट रहती है, विकृत या दूषित भावनाओं मे बिल्कुल अस्पष्ट रहती है और सिर्फ सयमित भावनाओं मे ही पूर्णतया प्रकाशित होती है। अतः सामान्यत. सभी पुरुषों को अपनी मौलिक भावनाओं में, वेदनाओं मे, आत्म-दर्शन हो सकता है। पर सच्चा आत्मदर्शन, अन्तर्नाद, तो तब होगा जब सयमित भावनाओं की अन्तर्यामी भावना का दया के द्वारा आत्म प्रत्यक्ष होगा। यही दया, भूतदया, जीवदया, या करुणा ज्ञान कराती है।

सच्चा ज्ञान अद्वैत भावना है जो दया या भूतदया से ही विदित होती है। इसीलिए कहा गया है कि दया के समान कोई ज्ञान नहीं है-- न दयासदृशं ज्ञानम्। और यही दया परम धर्म है-- न च धर्मो दयापरः। इस प्रकार दया में ज्ञान तथा धर्म की एकता हो जाने से इस की आवाज को अन्तरात्मा अर्थात् सदसद्विवेक की अकाट्य आवाज कहना ठीक ही है।

श्रीमती हाड-मार्टिन को गान्धी ने बतलाया-- "यह ठीक है कि समस्त जीवन मे मूलभूत एकता है; लेकिन विभिन्नता भी है। हमारा काम है कि उस विभिन्नता मे प्रवेश करके उसके अन्दर समाविष्ट एकता का पता लगायें, लेकिन बुद्धि के द्वारा नहीं, जैसा कि आप प्रयत्न करने की कोशिश कर रही है। जहाँ सत्य है, वहाँ असत्य भी जरूर होना चाहिए, इसी तरह जहाँ प्रकाश है, वहाँ छाया भी जरूर होगी। जब तक आप तर्क और बुद्धि ही नही, बल्कि शरीर का भी सर्वथा उत्सर्ग न कर दे तब तक आप इस व्यापक ज्ञान की अनुभूति नहीं कर सकती (ब्र० १ पृ० १३)।"

इस पर व्याख्यान करते हुए महादेव देसाई का ध्यान असीसी के सन्त फ्रांसिस के इन महान् शब्दों पर गया— "प्रकाश ने देखा और अन्धकार लुप्त हो गया। प्रकाश ने कहा "मैं वहाँ जाऊँगा ?" शान्ति ने कहा "मैं वहाँ जाऊंगी।" प्रेम उदित हुआ और घृणा उड़ गई। प्रेम ने कहा "मैं वहाँ जाऊँगा"। (वही पृ० १४०) देसाई का कहना है कि "यह बात सूर्य-प्रकाश की भाँति स्वय फैलकर हमारे अन्तर मे प्रवेश कर गई (वही पृ० १४०) अर्थात् उनकी समझ मे इसकी सत्यता आ गई।

वस्तुतः गान्धी के एवभूत ज्ञान को बहुत रहस्यात्मक ढग से व्यक्त करने के बजाय यदि देसाई उसे सर्वसाधारण मानवों के अनुभव के आधार पर अभिव्यक्त करते, तो उनकी विवृत्ति दूसरी ही होती।

रायचन्द्र भाई के प्रति लिखते समय गान्धी ने कहा कि उनमें दया बहुत थी। दया से उनका हृदय इतना आर्द्र हो जाता था कि वे उसमें

अपना अस्तित्व तो देखने ही थे, साथ ही औरों का भी अस्तित्व वे उसी में देख लेते थे। जिसने दया के उद्रेक का अनुभव किया वह अपने को पहचाने बिना कैसे रह सकता? फिर वह औरों से अपना भेद कैसे कर सकता है? वह तो सब में अपने को देखेगा। इस प्रकार दया से अद्वैत तत्त्व को समझा जाता है। परम कारुणिक गौतम बुद्ध तथा अहिंसक गान्धी ने भी इसी के माध्यम से समझे गए ज्ञान को बुनियादी ज्ञान कहा। इसमे कर्म, भावना तथा ज्ञान तीनों की त्रिविधता होने पर भी विचित्र एकता या अद्वितीयता रहती है जिसे सर्वसाधारण कारुणिक या दयालु जन भी किसी-न-किसी मात्रा में अनुभव कर सकते है।

गान्धी जब कहते हैं कि उन्हें अन्तर्नाद या आत्मप्रकाश मिल रहा है तो वे इसी दया की आर्द्रता में तर होते हुये अपने को अनुभव करते है।

अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान की विशेषता है कि वह अपना ज्ञापक या बोधक तथा प्रमाणकर्त्ता दोनों है। हमारा हृदय जब कोई ज्ञान देता है तो वह उसके साक्ष्य को भी उसी समय देता है। यह ज्ञान अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों का मानदण्ड है। जब उनकी प्रामाणिकता को हृदय मान ले, मन या हृदय गवाही दे दे, तभी उन ज्ञानों को हम प्रामाणिक मान सकते है। जब तक हृदय गवाही न दे तब तक केवल बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान को सत्य नहीं कहा जा सकता।

बुद्धि

हृदय के ज्ञान का निरूपण करते समय गान्धी ने ऊपर बुद्धि के उत्सर्ग की चर्चा की है। इस पर कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि बुद्धि का महत्त्व गान्धी के लिए कुछ नहीं था। पर बात यह नहीं है। हृदय के ज्ञान को बुद्धि से स्वतन्त्र या निरपेक्ष दिखलाने के लिए उन्होंने वहाँ उसका उस प्रकार उल्लेख किया। हृदय का ज्ञान बुद्धि मात्र

की सहायता या माध्यम से कदापि नहीं मिल सकता पर इसका यह आशय नहीं कि बुद्धि का ज्ञान नितांत अनुपयोगी है।

बुद्धि का अपना महत्त्व है। "बुद्धि को अपनी जगह तो है ही, लेकिन उसे हृदय की जगह पर नही बैठना चाहिए। आप अपने जीवन या किसी भी पहचान के बुद्धिशाली आदमी के जीवन के किन्हीं चौबीस घन्टों को जाँच कर देखेंगे, तो आपको मालूम होगा कि इस समय में किये हुए करीब सभी काम भावना से किए गए होंगे, बुद्धि से नही। इससे यह नसीहत मिलती है कि बुद्धि का एकबार विकास हो जाने के बाद वह अपने स्वभाव के अनुसार अपने आप ही काम करती रहती है, और अगर हृदय शुद्ध हो तो जो कुछ वहमभरा या अनीतिमय हो, उसे वह छोड़ देती है। बुद्धि एक चौकीदार है और अगर वह अपने दरवाजे पर सदा जाग्रत और अटल हालत में रहे, तो कहा जा सकता है कि वह अपनी जगह पर है।... जीवन यानी कर्त्तव्य यानी कर्म, जब बुद्धि से, तर्क से, कर्म को खतम कर दिया जाता है, तब वह दूसरे की जगह लेने वाली बन जाती है और ऐसी बुद्धि को हटाना जरूरी है (ब्र० २ पृ० ७५)।"

इससे स्पष्ट है कि हृदय या भावना का क्षेत्र कर्म है और बुद्धि का क्षेत्र उस कर्म का समर्थन करना है, उसकी चौकीदारी करना है। यदि बुद्धि हृदयोद्वेलित कर्म को खन्डित करती है, या कर्म मात्र को खडित करती है तो वह बुरी बुद्धि है और त्याज्य है। इस प्रकार गान्धी के मत से बुद्धि कर्म-सन्यास की शिक्षा देती है तो वह गलत करती है। हाँ, वह कर्म-सन्यास का फल देने के लिये और हृदयोद्भूत कर्म का समर्थन करने के लिए कर्मफलत्याग का सिद्धान्त, निष्काम कर्मवाद ढूँढ़ निकाल सकती है।

अत. "प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि। प्रथम सिद्धान्त और फिर प्रमाण। प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है (गी० मा० पृ० ५४१)।" बुद्धिः कर्मानुसारिणी।

बुद्धि तर्क-वितर्क करती है। उसके पास पाँच इन्द्रियों की जमात है। उसका वह नेतृत्व करती है। इन्द्रियों से उसको अपने तर्क-वितर्क, अनुमान-प्रमाण की सामग्री मिलती है। इन्द्रियों के विषयों को वही जानती है, वही अर्थ करती है, वही उसका नियोजन-वियोजन करती है। बुद्धि अपना व्यापार न करे तो इन्द्रिय-ज्ञान असंभव हो सकता है।

इससे यह न समझना चाहिए कि बुद्धि इन्द्रिय-प्रदत्तों पर ही निर्भर है, या उनका ही संघातमात्र है। बुद्धि का अपना स्थान है। वह भावना और इन्द्रिय-प्रदत्त के मध्य मे रहती है। दूसरे शब्दों में, उसके दो आधार हैं, भावना या हृदय और इन्द्रिय-प्रदत्त। यदि वह भावनानुकूल चलती है तो वह अपना काम ठीक करती है, तब उसको हम बुद्धि, सद्‌बुद्धि या व्यावसायात्मिका बुद्धि कहते हैं। और यदि वह भावना के आधार को बिलकुल भुला देती है और इन्द्रियप्रदत्तों के अनुकूल ही चलती है तो वह अनेक, अनन्त, हो जाती है। तब उससे हमे निश्चित सत्य नहीं मिल सकता है। तब वह दुर्बुद्धि या कुबुद्धि हो जाती है। गान्धी ऐसी बुद्धि को 'वासना' कहते थे (गी० मा० १२८) व्यवसायात्मिका बुद्धि इन्द्रियप्रदत्तों को भावनानुकूल बनाती है। वासना खुद अपने को ही इन्द्रियार्थो के अनुकूल बनाती है। जैसे असंयमी, अयुक्त पुरुष के हृदय मे स्फुरण नही होता, भावना नहीं होती, वैसे उसकी बुद्धि भी नहीं होती है। नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना (गीता २। ६६)। बुद्धिवादी बिनोबा ने गीता की इस पंक्ति को यों समझकर बनाया "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाबुद्धस्य भावना— सयम के बिना बुद्धि नही और बुद्धि के बिना भावना नहीं, ऐसा वाक्य यहॉ होना चाहिए था (स्थितप्रज्ञदर्शन पृ० ६१)" पर उनकी सूझ गान्धी के सिद्धान्त के साथ मेल नही खाती। गान्धी का कहना है कि बिना संयम के भावना नही हो सकती है यद्यपि बिना बुद्धि के हो सकती है। हाँ, बुद्धि भी बिना संयम के नहीं हो सकती है। अतः गीता की पंक्ति

विनोबा की पंक्ति से कदाचित् अधिक सारगर्भित है। ऐसा करके विनोबा ने बुद्धिपक्ष की महत्ता तथा अपनी कलामर्मज्ञता सिद्ध की है तो गीता और गान्धी ने तत्त्वज्ञान में भावना-पक्ष की महत्ता स्थापित की है। यहाँ स्मरण रहे कि भावना का अर्थ वही आत्मभावना या आत्म-प्रत्यक्ष है जिसका हम अन्तरात्मा के नाम से निरूपण कर चुके हैं। इस भावना में विश्वास करना श्रद्धा है। बुद्धि सयमी पुरुष को ही मिल सकती है। यह केवल पुस्तकीय ज्ञान से नही मिलती। इससे संयम करना जरूरी है, यम नियमादि का पालन आवश्यक है।

बुद्धि के विकास के बारे में गान्धी का कहना है कि "ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी, त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धि-योग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। यहाँ श्रद्धा और बुद्धि का अर्थ समझना रहता है। यह समझ भी व्याख्या करने से नही आती बल्कि सच्ची नम्रता के विकास करने से आती है। जो यह मानता है कि वह सब कुछ जानता है वह कुछ नहीं जानता। जो मानता है कि वह कुछ नहीं जानता उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है (गी० मा० पृ० ५६८)।" तात्पर्य यह है कि बुद्धि को नम्र होना चाहिए। अहकार उसका दोष है। आत्मज्ञान का समर्थन करना उसका एकमात्र कार्य है। उसका नाश नहीं होता है; आत्मज्ञान में सिर्फ उसका लय होता है, मिलान होता है।

गान्धी को राजनीति तथा कूटनीति का कटु अनुभव था। दक्षिण अफ्रीका और भारत मे उन्होंने देख लिया था कि एक ही प्रश्न पर लोग विभिन्न मत देते हैं और अपने मत के लिए विभिन्न तर्क पेश करते हैं। सबको विश्वास रहता है कि उनके तर्क सही हैं। पर सबके तर्कों में इतनी विषमता रहती है कि वे लोग अपने-अपने तर्कों को अपने प्रतिपक्षियों से मनवा नहीं पाते, इससे उन्हें रोष और असन्तोष होता है। "इसका अनुभव किसको नहीं हुआ होगा कि हमारी अन्तर्वृत्ति जैसे बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझा करती हैं और वे दूसरे के गले

न उतरें तो हमें असन्तोष, अधीरता और अन्त में रोष भी होता है (द० अ० पृ० १२१) ।" अतः गान्धी चाहते हैं कि "पाठक भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझें और जो अब तक वैसा न करते आये हों वे भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझने और उनका आदर करने की आदत डालें। सत्याग्रह का रहस्य समझने और खासकर इस अस्त्र को अजमाने के लिए ऐसी उदारता और ऐसी सहनशक्ति की अति आवश्यकता है इसके बिना सत्याग्रह हो ही नहीं सकता (वही पृ० १२१) ।"

गान्धी ने जैनियों के स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद के अध्ययन से शिक्षा ली थी कि अनेक दृष्टियाँ संभव हैं। उन सात अन्धों की कहानी को वे बहुत पसन्द करते थे जिन्होंने एक ही हाथी का विविध वर्णन किया और प्रत्येक का वर्णन सही और गलत दोनों था। "हर बात कम से कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय मे और एक ही मौके पर सही नही हुआ करतीं (आ० पृ० ३३७)।" यह जैनियों के सप्तभंगिनय का तात्पर्य है।

इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक क्रिया का प्रचुर विकास गान्धी को इष्ट था। बिना बुद्धि के पर्याप्त विकास के विभिन्न दृष्टियों को समझना और अन्त मे उनकी एकवाक्यता को हृदयगम करना असंभव है। जो बात वे गीता को समझने के विषय में कहते हैं वही बात प्रत्येक वस्तु, आध्यात्मिक या भौतिक, को समझने के विषय में कही जा सकती है, "गीता का अर्थ समझने में बुद्धि का काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नही मिलता, किन्तु जब बुद्धि के काम मे रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझने की इच्छा जागेगी। इसीलिए बुद्धि के विषयों मे रस लेने लगो (गी० मा० पृ० ५७०) ।"

बुद्धि का अनिवार्य संबन्ध वीर्य-लाभ से है। अत. इसके लिए ब्रह्मचर्य की नितांत आवश्यकता है।

गहरे तर्क करने की प्रेरणा देते हुए गान्धी ने कहा—"मैं भविष्य-वेत्ता नही और न मेरे दिव्यचक्षु हैं। जितना इन आंखों से देख सकूँ, कानों से सुन सकूं, वही मेरे पास है।. . . . . मैं कहूं इसलिए आप कोई बात न मानें। अपनी आखों से देखें सो करें, मेरे कहने से नहीं। २० महात्मा (गान्धी-जैसे या उनसे भी महान्) कहें तो भी नहीं। तजरबे से गलती करके आप सीखेंगे (प्रा० २ पृ० २८६)।" वे प्रायः कहा करते थे कि इन्सान का स्वभाव गलती करना है, पर यह भी उसका स्वभाव है कि वह गलती को दुरुस्त कर सकता है और करते हुए आगे बढ़ता है द्र० वही सर्वत्र)। बुद्धि को विकसित करने मे भी इसी प्रयोगवाद का उपयोग होता है। बुद्धि-बल जितना ही अधिक होगा उतनी ही आत्म-भावना फलवती होगी तथा उतनी ही जल्दी बुद्धि का उसमें लय होगा।

बुद्धि का विकास विद्याभ्यास से होना है और उसका परिपाक आत्मदर्शन है। बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान विद्या है। "किसी को साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिक शास्त्र की, किसी को कला की, पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए (ब० नी० पृ० २३६)।"

शास्त्र प्रमाण

हमें जीवन भर शब्द-प्रमाण, आप्तवाक्य, शास्त्र-प्रमाण द्वारा नाना वस्तुओं, पदार्थों का ज्ञान होता है। इस शास्त्र प्रमाण को समझाते हुए गान्धी ने कहा—

१. "गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई बात चाहे जहाँ भी लिखी हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रों को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूं। सदाचार के विश्वमान्य मूल तत्त्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्र प्रामाण्य मे नही मानता। शास्त्रों का उद्देश्य इन मूल तत्त्वों

को उखाड़ फेकना नहीं, वरन इन्हें टिकाए रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है इसका कारण यह है कि वह इन मूल तत्त्वों का समर्थन करती है। इतना ही नही, बल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है (गी० मा० पृ० ५६६)।"

२ "गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता अर्थात् हमारा आधार रूप ग्रन्थ। हममे से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान शरीफ--पूरा या उसका कोई भाग" (गी० मा० पृ० ५४६) या किसी भी धर्म का किसी भी भाषा में कोई भी ऐसा ही आधार रूप ग्रन्थ गीता है।

३. शास्त्र का "अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्ति में मूर्तिमान् होने वाला सदाचार है (वही पृष्ठ ५६६)।"

अत. जो सदाचार के विश्वमान्य मूल तत्त्वों को बतलाने वाला हो वही शास्त्र है। सदाचार के ग्रन्थ शास्त्र हैं। सदाचारी व्यक्ति शास्त्र है। चूँकि गीता सदाचार का ग्रन्थ है, अतः वह शास्त्र है। शास्त्र मार्गदर्शक होता है।

सामान्यतः हिन्दू शास्त्रों से वेद, उपनिषत्, स्मृतियाँ, इतिहास (रामायण और महाभारत) तथा पुराणों का बोध होता है। गान्धी इनको अपनी परिभाषा के अनुसार शास्त्र-प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त वे तुलसीकृत रामायण तथा बौद्ध और जैन दर्शन के ग्रन्थों को भी शास्त्र मानते है, हिन्दू शास्त्र मानते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के सत साहित्य को भी वे शास्त्र-प्रमाण मानते है। यही नहीं, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी धर्म के ग्रन्थों को भी वे शास्त्र प्रमाण या श्रुति प्रमाण मानते हैं। "वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं, इसका क्या अर्थ ? वेद यदि ईश्वर प्रणीत है तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नही (मे० पृ० ४६८) ?" वे संसार के समस्त नैतिक-धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को शास्त्र मानते हैं। वे उनको ईश्वर-प्रणीत

नहीं मानते। उनका कहना है कि शास्त्रों को ऋषियों-मुनियों ने खोजा है। उनमें सनातन सत्य के अतिरिक्त खोजने वाले व्यक्तियों की अपूर्णता के कारण कतिपय दोष भी हैं, मिथ्या बातें भी हैं। इस प्रकार शास्त्र या श्रुति प्रमाण का अर्थ गुणार्थ (Connotation) और व्याप्त्यर्थ (Denotation) दोनों अर्थों में जितना विशाल गान्धी के लिए है उतना आजतक भारतीय दर्शन-धर्म के इतिहास मे किसी के लिए भी नही था। फिर यदि इन प्रमाणभूत ग्रन्थों में भी कुछ अश ऐसे है और वे निःसन्देह हैं, जो सदाचार के विश्वमान्य नियमों से असंगत हैं, तो उन-उन अंशों को गान्धी प्रमाण न मानकर किसी अल्पज्ञ द्वारा क्षेपक मानते हैं। यह है श्रुतिप्रमाण का युक्तियुक्त अर्थ जो आजतक भारतीय दर्शन के इतिहास में इस रूप में कभी नहीं माना गया।

जैसे जैसे इतिहास बढ़ रहा है "वैसे शास्त्रों की भी सदा वृद्धि होती जाती है (हि० ध० पृ० २०)"। नए-नए ग्रन्थों का प्रवेश होता जा रहा है। प्रत्येक शास्त्रीय ग्रन्थ या व्यक्ति बुनियादी तत्त्वों का उपयोग अपने समय की आवश्यकताओं तथा मांगों को पूरा करने के लिए निरन्तर सप्रयास करता है। इस तथ्य को जो नही समझते वे सनातन हिन्दू धर्म-दर्शन को तथा हिन्दू धर्म-दर्शन की नित्य नवीन कृतियों को नहीं जान पाते हैं और कहने हैं कि हिन्दू दार्शनिक अभी वेदप्रमाण के आगे नहीं बढ़े हैं। यदि वेदकालीन श्रुतिप्रमाण से लेकर अद्यतन गान्धी गृहीत श्रुतिप्रमाण के अर्थविकास के इतिहास पर हम ध्यान दें तो हमें स्पष्ट समझ मे आ जाता है कि प्रत्येक युग के महान् दार्शनिकों ने श्रुतिप्रमाण के अर्थ में विकास किया है। याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शकर, विज्ञानभिक्षु, मधुसूदन सरस्वती, तुलसीदास, गान्धी, प्रभृति इस का ज्वलंत साक्ष्य देते हैं। वर्तमान भारत में श्रुतिप्रमाण का वह अर्थ नहीं है जो वेदों की ऋचाओं के समय था। श्रुतिप्रमाण कोई रूढ़िगत साक्ष्य नहीं है। यदि हम इसको न मानें, सिर्फ तर्क और अनुभव को ही मानें, तो कोई क्षति नहीं है। वर्तमान भारतीय दार्शनिकों ने इसलिए

श्रुतिप्रमाण से स्वतन्त्र या निरपेक्ष प्रमाणों द्वारा अपने-अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा की है। गान्धी भी उन्हीं में से एक हैं। पाश्चात्य विद्वानों को अभी इस सरल सत्य को समझना है।

प्रचलित हिन्दू शास्त्रों का अर्थ भी गान्धी ने अपने ढग से यों किया—

१—"महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नही है, बल्कि धर्म ग्रन्थ हैं। या उसे इतिहास ही कहना चाहें तो वह आत्मा का इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य देह में क्या-क्या जारी है, इसकी वह एक तसवीर है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर के, राम और रावण के (अच्छाई और बुराई के) बीच नित्य चलने वाली लड़ाई का वर्णन है (गी० मा० ४)।"

२—गीता महाभारत का अंग है। "इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरंतर होते रहने वाले द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है; मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है (वही पृ० १०५)।" "गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान हैं ; परन्तु काल्पनिक हैं" (वही पृ० १०६)।

गान्धी के इन विचारों से कुछ लोग कह सकते हैं कि उन्होंने शास्त्रों का अनर्थ किया। पर वे इस बात को भूल नही सकते कि गान्धी ने इन शास्त्रों का गम्भीरतम आध्यात्मिक तथा नैतिक अर्थ किया। यदि ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से देखें तो गान्धी का महाभारत-रामायण को ऐतिहासिक ग्रन्थ न मानना उतना ही एकांगी और भ्रमपूर्ण है जितना अन्य लोगों का यह मानना कि इन ग्रन्थों का प्रत्येक शब्द या प्रत्येक घटना ऐतिहासिक है। जब गान्धी अधिक सावधान रहे हैं तब उन्होंने स्वीकार किया है कि इन ग्रन्थों में इतिहास, आत्मिक

साधना तथा काव्य का इतना मिश्रण हो गया है कि मानव बुद्धि आज इन पर विचार करके चकित रहती है, वस्तुत. ये इतिहास, अध्यात्म शास्त्र तथा काव्य सभी के ग्रन्थ है। यह परम्परागत सत्य अधिक युक्तियुक्त है। (द्र० रामनाम पृ० १५०)। गान्धी महाभारत के बारे मे कही गई उक्ति "जो इसमे है वही अन्यत्र है, जो इसमे नही है वह अन्यत्र भी नहीं है— यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" को मानते थे और कहते थे कि महाभारत ही नही वरन् हिन्दू धर्म अर्थात् सभी हिन्दू शास्त्र भी इसी प्रकार के है (द्र० हि० ध० पृ० ४) क्योंकि उनके अनुसार उन सब में सदाचार के बुनियादी तत्त्वों का सम्यक् निरूपण है।

शास्त्र-प्रमाण की इस प्रकार नवीन तथा वर्तमान भारत या युग के अनुकूल व्याख्या करते हुए भी गान्धी ने शास्त्रो के अर्थ करने की प्राचीन नियमावली को स्वीकार किया है। उन्ही के शब्दों में ये नियम यों हैं—

१ "शास्त्र का अर्थ करने में सस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेद का अभ्यास नही होता, न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति (शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य १/ ३/ ३४), यह वाक्य सर्वथा गलत नही है। शूद्र अर्थात् असस्कारी मूर्ख, अज्ञान। वह वेदादि का अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। ..... व्यभिचारी के मुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा ? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा ?

"अर्थात् शास्त्र का अर्थ करने वाला यमादि का पालन करने वाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जैसे कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरुओं का होना आवश्यक माना है; लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्तिप्रधान प्राकृत ग्रन्थों का पठन-पाठन करने की शिक्षा देते हैं; किन्तु जिनमे भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्र का अर्थ करने के अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही

निकालें, लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है (गी० मा० पृ० ५४३)।"

२ 'शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षर को न पकड़कर उसकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण उत्तम ग्रन्थ है, क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्र जी ने सीता जी पर कभी प्रहार नही किया। इतना ही नही, उन्हें कभी दुःख भी नही पहुँचाया। तुलसीदास ने केवल प्रचलित वाक्य को लिख दिया। उन्हे इस बात का ख्याल भी न हुआ होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्धाङ्गना का ताड़न करने वाले पशु भी कहीं निकल पड़ेगे (वही पृ० ५४४-५४५)।"

यदि शास्त्रों के अर्थ करने मे इन दो नियमों का पूर्ण पालन किया जाय तो नि:सन्देह शास्त्र प्रमाण सभी के लिए आध्यात्मिक विश्वकोष सिद्ध होगा। गान्धी प्राय: इसको जीवन-सहिता कहते थे, अपना आध्यात्मिक कोष कहते थे। श्रुति-प्रमाण के निन्दकों को गान्धी के इन सिद्धान्तों को ध्यान मे रखना चाहिए और तदनुकूल श्रुतियों या शास्त्रों का अर्थ लगाकर लाभ उठाना चाहिए।

गान्धी सदाचारी तत्त्वज्ञों को भी शास्त्रों की ही दृष्टि से देखते थे। उन्होंने कहा "तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उसमे पहला स्थान मैं रायचन्द्र कवि को देता हूं, दूसरा टालस्टाय को और तीसरा रस्किन को (मे० पृ० ९२५)।" "टालस्टाय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचंदभाई ने अपने गाढ़े परिचय से (वही पृ० ५००)।" और "रायचद भाई ने अपने सजीव संसर्ग से,

टालस्टाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' (The Kingdom of God is Within You) नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने अनटू दिस लास्ट (Unto This Last)—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया (वही पृ० ४६८ और अ० १ पृ० '१२) ।"

रायचन्द्रभाई के बारे मे उन्होंने लिखा कि 'वे दया-धर्म की मूर्ति' थे; 'वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे'; 'खुद हजारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते, पर वे बातें उनका विषय न थी। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो आत्म-साक्षात्कार —हरिदर्शन था'; 'उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुँच जाती'; 'जब मुझे हिन्दू धर्म में शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने मे मदद करने वाले रायचंदभाई थे; 'उनके पास हमेशा कोई न कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापी में वे अपने मन में जो विचार आते उन्हे लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य और कभी पद्य में होते थे'; 'वे कवि थे', 'कवि संस्कारी ज्ञानी थे'; 'मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा के हों, जिस क्रम से मैं बोलूंगा उसी क्रम से वे दुहरा जावेंगे, 'कवि की स्मरण शक्ति के विषय में मेरा उच्च विचार हुआ'; 'उनका पक्षपात जैन धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागम में आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है'; 'परन्तु रायचदभाई का दूसरे धर्मों के प्रति अनादर न था, बल्कि वेदान्त के प्रति पक्षपात भी था। वेदान्ती को तो कवि वेदान्ती ही मालूम पड़ते थे'; 'मुझे कौन-सी पुस्तकें बाँचनी चाहिये, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के सस्कार देखकर मुझे गीता जी बाँचने के लिये उत्तेजित किया'; 'मैं कितने ही वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुषों की शोध में हूं परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत मे अब तक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचंद्र भाई के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। उनमें ज्ञान. बैराग्य और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महान्

शक्ति थी जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसंग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्त्वज्ञानियों की अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। यूरोप के तत्त्वज्ञानियों में मैं टालस्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हूं, परन्तु श्रीमद् राजचन्द्र भाई का अनुभव इन दोनों से भी बढ़ा-चढ़ा था,' 'वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़े का नहीं हूं। और न किसी बाड़े में रहना ही चाहता हूं। यह सब तो उपधर्म—मर्यादित— हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती', और "उनके लेखों का सग्रह गुजराती मे प्रकाशित हुआ हैं (द्र० मे० पृ० ४६२—५११)।"

निसन्देह रायचद्रभाई सच्चे आप्त पुरुष थे। उनके वचन क्यों न प्रमाण माने जायें? यही बात अन्य आप्त पुरुषों के बारे में भी कही जा सकती है। यदि शास्त्रों का सच्चा अर्थ किया जाय, तो शास्त्र प्रमाण से ज्ञान-वृद्धि होती है, यह निर्विवाद है। पर इतना जानना ही पर्याप्त नही है। हमें यह भी जानना चाहिए कि 'अमुक हद के बाद शास्त्र मदद नही करते, परन्तु अनुभव मदद करता है (गान्धी—मे० पृ० ५१)"। "हम केवल बुजुर्गों की ही प्राप्ति की हुई पूजी पर नही निभ सकते। उसमें यदि वृद्धि न की जाय तो हम उसे खा जाते हैं (वही पृ० २२६)।" अत हमें बुद्धि तथा अन्तरात्मा द्वारा नूतन शास्त्रों को बनाने का कार्य सदा करते रहना चाहिये। इस दृष्टि से प्रत्येक दार्शनिक एक ओर अतीत के ज्ञान का सरक्षक है और दूसरी ओर अनागत के ज्ञान का द्रष्टा या कर्त्ता है।

ज्ञान की कसौटी और उनका प्रयोग

गान्धी सत्य की कसौटी बतलाते हुए निम्नलिखित बातें कहते हैं—

(१) "विचार में, वाणी में और अचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को सम्पूर्णतः समझने वाले के लिए जगत् में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता,.. ...क्योंकि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ

है। उसमें जो न समाय वह सत्य नही है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनद तो हो ही कहां से सकता है ? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायँ तो हमे यह जानने मे देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं; क्या पढ़ने योग्य है, क्या नही (ध० नी० पृ० ११६)"।

(२) "अविरोध (Inconsistency) तो छोटे-से आदमी का पिशाच है। हमारे जीवन मे कभी विरोध आने वाला ही नही, अगर हम यह दिखलाना चाहे तो हमे मरा ही समझें। ऐसा करने में अगर कल के कार्य को याद रखकर उसके साथ आज के कार्य का मेल करना पड़े तो कृत्रिम मेल में असत्याचरण हो सकता है। सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो, उसका आचरण करना चाहिये। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो जाती है तो हमारे कार्यों में दूसरों का विरोध दीखे भी तो उससे हमे क्या सम्बन्ध है। सच तो यह है कि हमारा विरोध नही है, हमारी उन्नति है (मे० पृ० २२८—२२६) "।

(३) "मैं तो हर पद पर जिन वस्तुओं को देखता हूं, उनके त्याज्य और ग्राह्य, दो हिस्से कर लेता हूं; और ग्राह्य के अनुसार अपना आचरण बनाता हूं और इस प्रकार बनाया हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धि और अन्तरात्मा को जब तक सन्तोष दे तब तक मुझे उनके शुभ परिणामों के विषय मे अटूट विश्वास रखना ही चाहिए। .. ..मेरे ख्याल से सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अनगनित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। यह सत्य वह स्थूल-वाणी का-सत्य नही है। यह तो जैसे वाणी का है, वैसे विचार का भी है। यह सत्य हमारा कल्पित सत्य ही नही है, बल्कि स्वतंत्र और चिरस्थायी सत्य है, अर्थात् परमेश्वर ही है। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं; पर मैं इसका शोधक हूं।..... इस सत्य का साक्षात्कार न कर लेने तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, अपना दीपक समझकर, उसके आश्रय में अपना

जीवन बिताता हूं ? इस मार्ग पर चलकर अपनी भयंकर भूलें भी मुझे तुच्छ-सी लगती है, क्योंकि ये भूलें करते हुए भी मैं बच गया हूं और अपनी समझ के अनुसार आगे भी बढ़ा हूं। दूर दूर से विशुद्ध सत्य की— ईश्वर की— झांकी भी हो रही है। सत्य ही है, इसके सिवा दूसरा कुछ भी इस जगत् मे नही है, ऐसा मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। . अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य के गज को कभी छोटा होने का अवसर न आए (आ० प्रस्तावना पृ० ५-७) ।"

(४) "यह प्रगति का पुराना तरीका है, आगे बढ़ना, गलतियाँ करना और उन्हें सुधारते जाना (प्र० २ पृ० १८३) ।"

(५) "जो अपने को आदर्श तक पहुंचा हुआ समझता है, उसे नष्ट-प्राय ही समझना चाहिए। बस यही से उसकी अधोगति शुरू होती है। ज्यों-ज्यों हम आदर्श के समीप पहुँचते है, आदर्श दूर भागता जाता है। जैसे-जैसे हम उसकी खोज मे अग्रसर होते है, यह मालूम होता है कि अभी तो एक मंजिल और बाकी है। कोई भी जल्दी से मजिलें तय नही कर सकता, ऐसा मानने में हीनता नहीं है, निराशा नही है, किन्तु नम्रता अवश्य है। इसी से हमारे ऋषियों ने कहा है कि मोक्ष तो शून्यता है। मोक्ष चाहने वाले को शून्यता प्राप्त करना है (मे० पृ० २२८) ।"

इन अनुच्छेदों पर मनन करने से ज्ञात होता है कि सच्चे ज्ञान की कसौटी (१) अन्तरात्मा है (अनुच्छेद ३ ऊपर), (२) एकवचनीत्व, कथनी-करनी की एकता अथवा मन, वाणी और कर्म की एकता है (अनुच्छेद १ ऊपर) जिसे हम अविरोध (Consistency) कह सकते हैं, (३) समयानुकूल सच्चा प्रतीत होने वाले ज्ञान की आचरण-प्रवणता है (अनुच्छेद २ ऊपर) जो अनिवार्यत. विरोधपूर्ण होता रह सकता है, (४) अनन्त सत् या परमात्मा है जिसकी सत्ता बोध है और जिसका बोध सत् है (अनुच्छेद ३) और (५) सदा दूरगामी शून्यता है (अनुच्छेद-५) जिसका हम अर्थ माध्यमिकों की शून्यता ले सकते है।

इन पर विचार करने से आपातत. ज्ञात होता है कि सच्चे ज्ञान की कई कसौटियाँ हैं। पर यदि हम इन पर गम्भीर विचार करें तो ज्ञात होगा कि वस्तुत. कसौटी एक ही है, अनेक नही, और वह है सत्याग्रह या सत्यता का अभिनिवेश।

इसे हम यों समझ सकते हैं — अद्वैतवेदात मे सच्चे ज्ञान की कसौटी है अव्यभिचारिता या नित्य एकरूपता। माध्यमिक बौद्ध दर्शन मे सच्चे ज्ञान की कसौटी है शून्यता। आज यह बात सर्वविदित है कि दोनों की प्रणाली मे यद्यपि भेद है, तथापि दोनों की कसौटी एक ही है। और वह है परम तत्त्व या नित्य सर्वान्तर अद्वैत वस्तु की अनुभूति। गान्धी इस कसौटी को सभाव्य आदर्श मानते हैं, यथार्थ नही। वे शंकर की भाँति बुद्धिमार्गी या ज्ञानमार्गी या ज्ञानयोगी (Dialectician) नही है जो अपने को कहते है कि मैंने बुद्धि से परम तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। वे नागार्जुन की भाँति रहस्यवादी या ध्यानयोगी (Mystic) भी नही है जो कहते है कि मैंने प्रज्ञा (अन्तरात्मा = Intuition) से परम तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। वे इन दोनों के आदर्श को सम्भव अपने ही लिए नही वरन् सब के लिए मानते हैं। पर जब तक यह प्राप्त न हो जाय इसे हम अपने ज्ञान की कसौटी कैसे बना सकते हैं ? अतः उन्होंने इसकी ओर निरन्तर बढ़ते रहने को ही ज्ञान, कर्म, जीवन, सब की कसौटी माना। यदि हम आदर्श को सत्य कहे तो हम इस सिद्धान्त को सत्याग्रह कह सकते हैं। बुद्धिपूर्वक सत्य की ओर बढ़ने की यह प्रवृत्ति है, अभिनिवेश है, हठ या आग्रह है।

इसी को हम परम तत्त्व की ओर से देखने के बजाय यदि साधारण मनुष्य की दृष्टि से देखें तो यों देख सकते हैं— सभी मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के अस्तित्व का कुछ बोध होता है। संस्कार या आत्म-संयम से हम अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। जैसे-जैसे आत्म-संयम बढ़ेगा, वैसे-वैसे यह ज्ञान भी अधिक स्पष्ट होगा। अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान को हम बौद्धिक ज्ञान का आधार बतला चुके हैं। वह

बौद्धिक ज्ञान में अन्तर्व्याप्त रहता है। वही बौद्धिक ज्ञान की सत्यता की कसौटी है। यदि बौद्धिक ज्ञान उसके अनुकूल है तो वह सच्चा है, अन्यथा नहीं। पर चूँकि आत्मसंयम की वृद्धि से, बुद्धि के बढ़ते हुए उसके समर्थन से, इस आत्म-प्रतीति का अर्थ भी बढ़ता रहता है, अत. क्या यह माना जाय कि अन्तरात्मा जो बौद्धिक ज्ञान की कसौटी है, परिवर्तनशील है। गान्धी वस्तुत इस प्रकार की आत्म-प्रतीति को सदा परिवर्धमान मानते हैं। जब वे कहते है कि अविरोध पिशाच का गुण है तो उनका आशय यह है कि आत्म-प्रतीति की मात्रा स्थिर नहीं है। यदि हम किसी पुरुष की आत्म-प्रतीति को किन्हीं परिस्थितियों मे किसी समय "क" मानें और उसी पुरुष की आत्म-प्रतीति को दूसरी परिस्थितियों मे या उन्ही परिस्थितियों मे दूसरे समय मे "ह" माने, तो प्रश्न उठता है कि "ह" "क" से बिलकुल भिन्न या विरुद्ध है अथवा "क" और "ह" मे कुछ एकता या अविरोध भी है। यदि हम ऊपर के पाचों अनुच्छेदों को सूक्ष्म बुद्धि से समझे तो ज्ञात होगा कि गान्धी का कहना है कि "क" की ही प्रगति "ह" मे हो रही है। "ह" "क" का विकास है। इसका मतलब यह नही कि "ह" "क" से बिलकुल भिन्न या विरुद्ध है। विरोध होने पर तो प्रगति ही न होती, तब तो एक का नाश था और दूसरे की उत्पत्ति थी। पर ऐसा न होकर "क" की प्रगति "ह" मे मानी गई है। फिर हो सकता है कि "ह" प्रगति न होकर अधोगति हो। यदि "ह" प्रगति है तो भी और अधोगति है तो भी, उसकी तुलना हम "क" से करते है, "क" के गुणों को अधिक या कम पाने पर हम "ह" को "क" की प्रगति या अधोगति क्रमश. कहते हैं। प्रगति होने पर हम "क" के अच्छे रूप "ह" को पा जाते हैं, अतः हमारी कसौटी या मानदण्ड तब से "ह" होने लगता है। अधोगति होने पर हम "क" को ही मानदण्ड माने रहते हैं और अपनी गलतियों या भूलों को सुधारते हैं, उन्हे फिर न करने का व्रत करते हैं, नतीजा यह होता है कि हम फिर "क" को "ह" में नहीं बदलने देते है। जितनी बार हमें आत्म-

प्रतीति का उत्थान या पतन अनुभूत होता हैं, उतनी ही बार हम ऐसी ही क्रियाओं की आवृत्ति करते है। फलस्वरूप हम आत्म-प्रतीति को अधिकाधिक अनुभव करते जाते ह। यही सत्याग्रह है अर्थात् सत्य का अधिकाधिक अनुभव करना हे। इस आत्म-प्रतीति की प्रगति पूर्ण सत्य या परम तत्त्व तक हो सकती है। पर कभी भी आत्म-प्रतीति उस परम तत्त्व मे हम मनुष्यों के जीवन काल मे समा नही सकती। अतः हम सिर्फ सत्याग्रह तक ही रह जाते हैं। आरभिक या आदिम आत्म-प्रतीति तथा चरम अद्वैतानुभूति या आत्मज्ञान दोनों की मध्यमा प्रतिपत् यह सत्याग्रह है, पहली से अधिक और दूसरी से अल्प। बौद्धिक ज्ञान का यह आधार अवश्य है, पर यह बौद्धिक ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकता है। केवल बौद्धिक ज्ञान की शून्यता या नितांत आलोचना इसके लिए अभीष्ट है। हा, अन्तरात्मा से युक्त बौद्धिक ज्ञान इस ओर लाभकारी हो सकता। जिन वृत्तियों मे हमे अन्तरात्मा की प्रतीति होती है उन्हें हम सत्य मानेंगे, शेप को असत्य। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों में हमे अपनी अन्तरात्मा की प्रतीति होती है, उन्हें हम सत्य मानेंगे, शेष को असत्य। इस ओर हम जितने बड़े पैमाने पर प्रयोग करेंगे उतना ही हम देखेंगे कि हमारी अन्तरात्मा सर्वान्तर है। अत. हमें सब को प्रेम करना है, यदि हमे इसे जानना है तो। सब की सेवा करनी है ठीक वैसे ही जैसे हम अपनी सेवा करते हैं।

इस प्रकार समझने पर सत्याग्रह नित्य बढ़ते रहने पर भी नित्य एकरूप बना रहता है। यह एकरूपता दो प्रकार से समझी जा सकती है। पहले, सत्याग्रह सर्वजन-सुलभ आरंभिक आत्मप्रतीति के अनुरूप होता है। दूसरे, यह कल्पित पूर्ण तत्त्वानुभूति या अद्वैतानुभूति की ओर उन्मुख रहता है। यदि सत्याग्रह मे ये दो बातें नहीं हैं तो फिर यह सत्याग्रह न होकर असत्याग्रह या मिथ्याग्रह है।

गान्धी कोरे तर्कविदों की तरह सत्य को केवल वाणी—वचन—या वाक्य का ही गुण नहीं मानते थे। सत्य वाणी या वाक्य का गुण तो

है ही। वह वाणी के उत्स हृदय का भी गुण है। वह भावनाओं या उद्वेगों का भी वैसा ही गुण है जैसा कि वह प्रत्ययों या वृत्तियों का है। पुनश्च वह कर्म का भी गुण है। वह यही नहीं, वाणी की एकरूपता, हृदय की एकरूपता या कर्म की एकरूपता ही नहीं है, वरन् इन तीनों की पारस्परिक एकरूपता भी है। सत्य वही हो सकता है जो आचरणीय हो। अनाचरणीय कथमपि सत्य नहीं हो सकता।

सत्याग्रह जैसे ज्ञान की एकरूपता में सत्याभिनिवेश हो जाता है, वैसे वह वाणी, मन या हृदय और कर्म की एकरूपता में सत्याचरण हो जाता है। उसका हृदयगत, बुद्धिगत और कर्मगत अर्थ है। हृदयगत अर्थ दया की प्रवणता है, बुद्धिगत अर्थ सत्य का अभिनिवेश है और कर्मगत अर्थ अहिंसा है। कभी-कभी अहिसा शब्द का उपयोग तीनों अर्थों के लिए किया जाता है और तब वह सत्याग्रह का पर्याय बन जाता है।

आचरणानुकूलता सत्यता की कसौटी मान लेने पर लगता है कि गान्धी उपयोगवादी (Pragmatist) थे। वे अभ्यासी थे। अतः यह सत्य है। अभ्यास के अनुसार वे अपने सिद्धान्त में भी फेरफार कर लेते थे। पर यह कसौटी का एक पहलू है। दूसरा पहलू दया का उद्रेक है। इससे लगता है कि गान्धी भक्त थे अथवा परम कारुणिक बोधिसत्व थे। पर यह भी पर्याप्त नहीं है। उनकी कसौटी केवल आचरणाग्रह और दयाग्रह ही नहीं वरन् सत्याग्रह अर्थात् सच्चे ज्ञान का आग्रह है। यहाँ वे विज्ञानवादी (Idealist) प्रतीत होते हैं। इन तीनों का मेल एकत्र बैठ जाने से सत्याग्रह विश्व-दर्शन में वर्तमान भारत की महान् देन हो गया है।

सत्याग्रह के एवंभूत सिद्धान्त को खोज लेने से बौद्ध दर्शन की परिवर्तनशील शून्यता और वेदांत की कूटस्थ आत्मा का मध्यम मार्ग मिल जाता है। दोनों का इसमें उपयोग हो जाता है, क्योंकि सत्याग्रह स्थिर होते हुए भी परिवर्तनशील है, आत्मानुभूति होते हुए भी शून्यता है।

नम्रता में सत्याग्रह की पूर्ण छाप पाई जाती है। पूर्ण सत्याग्रह पूर्ण नम्रता की प्राप्ति से ही संभव हो सकता है। नम्रता से आत्मज्ञान मे लाभ होता है, दया मे वृद्धि होती है और कर्म के बंधन से मुक्ति मिलती है। नम्र पुरुष दूसरों से सीख सकता है। वह अपने को जान सकता है। दूसरों पर दया बरसा सकता है। दूसरों से दया ले सकता है। वह कोई काम सगर्व नहीं करता। सच्ची नम्रता शून्यवत् हो जाना है।

कोई यह न समझे कि नम्रता केवल संवेगों या इच्छाओं का ही गुण है। नम्रता बौद्धिक भी होती है। सच्ची विद्या या बुद्धि सदैव नम्र होगी, विनीत होगी, अर्थात् वह अपने को ही संपूर्णता का दावा न करेगी, औरों के भी दृष्टि-विन्दुओं को मानेगी और अपने दृष्टि-विन्दु को वैसा मानते हुए भी सच्चा समझेगी। शायद विद्या ददाति विनयम्, विद्या विनय देती है—इस वाक्य का यही ज्ञानमार्गीय अर्थ है।

अद्वैत वेदान्त मे आत्मा या ब्रह्म को जानने का मार्ग है अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया। अध्यारोपापवादाभ्याम् निष्प्रपंचं प्रपंच्यते, अध्यारोप और तदनन्तर उसके अपवाद द्वारा प्रपंचशून्य सत् का वर्णन किया जाता है। यह ज्ञानमार्ग का प्रतिषेधक वर्णन है। यह नेति-नेति का मार्ग है। इसके पीछे 'इति इति' का भी मार्ग छिपा है। बिना 'इति-इति' के कोई व्यक्ति किस आधार पर 'नेति-नेति' कह सकता है ? गान्धी का ध्यान इसी 'इति-इति' की प्रक्रिया पर था। इसी को वे सत्याग्रह कहते हैं अर्थात् सत्य का शाश्वत आग्रह जो नेति-नेति के मार्ग में आद्योपान्त व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से देखे तो ज्ञात होगा कि सत्याग्रह ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक स्वस्थ सिद्धान्त है। अद्वैत वेदान्त में 'इति-इति' प्रक्रिया 'नेति-नेति' प्रक्रिया के साथ चलती तो है, पर पहले के किसी दार्शनिक ने इसका सुन्दर निरूपण नहीं किया। गान्धी ने इसको सत्याग्रह का नाम दिया। उन्होंने इस प्रक्रिया को पहिचाना। उनकी दृष्टि निषेध पर कम जाती थी, विधि पर अधिक। अतः वे अध्यारोपापवाद प्रणाली को विधायक रूप देना चाहते

थे। इसीलिए उन्होंने इसके विधायक पक्ष पर जोर देकर इसको सत्याग्रह कहा।

शायद यह कहना अतिशयोक्ति नही है कि अद्वैत वेदान्त के इतिहास में गान्धी की यह महान् देन है। उनका स्पष्ट, स्वस्थ और समीचीन पारिभाषिक शब्द देना उनका ज्ञानमार्ग के स्वरूप का वास्तविक ग्रहण बताता है। यह उनकी समन्वयात्मक बुद्धि का परिचायक है।

वर्तमान समय में पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रयोगवाद (Experimentalism) की ज्ञानमीमांसा में और सत्याग्रह की प्रयोगवादी ज्ञानमीमांसा मे अन्तर है। पाश्चात्य प्रयोगवाद में कोई मानदण्ड स्थिर नही है। उसका सदा परिवर्तन होता रहता है। सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में परिवर्तित होने वाले ज्ञानरूपों या सिद्धान्तों मे कम से कम सत्यता के प्रति प्रवृत्ति सदैव नित्य और अचल रहती है। दोनों ज्ञानमीमांसाये सापेक्ष्यवादी हैं। पर सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में जो सत्याभिनिवेश सभी प्रयोगों मे झलकता है, उसको पूर्णरूप से प्राप्त करने का लक्ष्य निरपेक्ष है, यद्यपि वह जीवनकाल में दुर्लभ है। हो सकता है शरीर छुटते ही वह लभ्य हो जाय (द्र० दसवाँ अध्याय)।

अध्याय ४

नव्य कर्ममार्ग

बुनियादी ज्ञानमीमांसा के वर्णन में हमने देखा कि अन्तरात्मा, बुद्धि तथा शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मसंयम की आवश्यकता है। इस कारण आत्मसंयम ज्ञानोदय का अवश्यभावी पूर्ववर्त्ती है। आत्म-सयम का अर्थ अपने ऊपर अपना स्वत्व या अधिकार कायम करना है, अपने को सुधारना-सँवारना है। इसका फल आत्मशुद्धि या सत्त्वशुद्धि है जिसके उपरान्त ही सच्चा ज्ञान मिलता है।

आत्मशुद्धि कर्म से ही संभव है। गान्धी गीता के निम्नलिखित श्लोक को अक्षरशः सत्य मानते थे—

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (गीता ५/११)

अर्थात्

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

कर्मफल-त्याग या अनासक्तियोग उनके अनुसार गीता का मध्य-विन्दु है। कर्म करने से ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। पर साथ ही

कर्म बन्धनकारी भी हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में ऊपर से विरोध दीखता है। पर गान्धी ने गीता के अनुसार दोनों का विरोध दूर किया। कर्म का फल त्याग देने से कर्म बन्धनकारी नहीं होते। कर्म के फल में आसक्ति रखना ही कर्म को बन्धनकारी बनाती है। उस का परित्याग करने से कर्म धूतपाप्मा हो जाता है। 'निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति (गी० मा० पृ० ११२)।' 'कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है' (गी० मा० पृ० १११) क्योंकि वह कर्मफल का त्याग करता है और यही सच्चा संन्यास है।

गीता ने यज्ञ, दान और तप को अत्यन्त आवश्यक कर्म बताया है। इनका त्याग कथमपि नही किया जा सकता है। गीता के यज्ञ का अर्वाचीन अर्थ करते हुए गान्धी ने कहा "यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ, किए हुए कर्म" (वही पृ० १३८)। फिर इसका विशद अर्थ करते हुए उन्होंने बताया कि जैसे प्राचीन यज्ञों का साधन अग्नि थी, वैसे अद्यतन यज्ञों का साधन चर्खा होना चाहिए। प्राचीन यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे, अद्यतन यज्ञ भी उन्हीं को खुश करने के लिए होने चाहिए। पर 'देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियाँ देवता हैं। उनकी आराधना का फल तुरन्त और इस लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं (वही पृ० १५०)।" इस प्रकार उन्होंने चर्खा कातना, बुनकर का काम करना, आदि रचनात्मक कार्यों को यज्ञ बतलाया है। जैसे गीता के यज्ञ निष्काम भाव से किये जाने पर आत्मशुद्धि और लोक-सग्रह दोनों को प्रदान करते हैं वैसे गान्धी के यज्ञ भी निष्काम भाव से किए जाने पर इन दोनों के प्रदाता हैं।

गान्धी ने निष्काम भाव से सभी कर्मो के करने पर जोर दिया। कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि, लोक-संग्रह

कर्म की अनिवार्यता बतलाते या सिद्ध करते हुए गान्धी ने गीता के तर्कों को पेश किया कि कर्म के बिना शरीर-यात्रा, जीवन-गति, भी नही चल सकती और सिद्ध से सिद्ध महापुरुष तथा परमेश्वर भी कर्म में दिनरात रत हैं।

निष्कर्मता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा— "निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव" (वही पृ० १३६)। फिर इसी को और विशद करते हुए कहा— "मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति (सूर्य, चन्द्र आदि) यन्त्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यन्त्र की भांति ही नियमित कर्म करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यंत्र-गति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नही है, बल्कि ज्ञान-पूर्वक उस गति का अनुकरण करने मे है (वही पृ० १४१)।" यह वेदान्तियों के मत को अधिक स्पष्ट करता है कि ज्ञानी जड़वत् आचार या व्यवहार करता है।

कौन कर्म करने चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर गान्धी ने दिया, वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्य-क्रम और सत्याग्रह आन्दोलन।

वर्णाश्रम धर्म

हिन्दू धर्म के चार वर्णों और चार आश्रमों में गान्धी की अविचल श्रद्धा थी। उनका कहना था कि गुण और कर्म के अनुसार ही चार वर्णों की सृष्टि की गई है। ये चार वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपना पुश्तैनी, वर्णीय, पेशा करे। यदि उसका जन्म ब्राह्मण के यहाँ हुआ है तो वह ब्राह्मण का कर्म करे और वैश्य या शूद्र के यहाँ हुआ है तो क्रमशः वैश्य या शूद्र का कर्म करे। स्वधर्म ही करना चाहिए चाहे वह अच्छा न भी समझा जाता हो।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ गीता ३ । ३५

अर्थात्

पराये धर्म के सुलभ होने पर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गान्धी जाति-पांति को मानते थे और उनकी श्रेष्ठता-निकृष्टता में विश्वास करते थे। वे तो उसको समूल नाश करने के पक्ष में थे। कर्म से कोई जाति नहीं बन सकती। कर्म से कोई छोटा या बड़ा, ऊँच या नीच नही हो सकता। भंगी और ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय, सब बराबर हैं। वर्ण का सिद्धान्त जाति का सिद्धान्त नहीं है। वर्ण का सिद्धान्त नैतिक है, सामाजिक कर्त्तव्यों के वर्गीकरण और विभाजन का यह सिद्धान्त है। जाति का सिद्धान्त अनैतिक है, उससे कोई लाभ नही हो सकता। वर्ण चार हैं, जातियाँ अनेक हैं। समाज की मर्यादा के लिए जितने कार्य आवश्यक हैं, उनको सदैव करना पड़ेगा। एक व्यक्ति सब काम नही कर सकता। इस कारण वर्ण के सिद्धान्त की सदा अपेक्षा रहेगी।

कुछ लोग वर्ण के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि वर्ण जन्मना नहीं कर्मणा माना जाना चाहिए। शूद्र भी यदि वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण का कार्य करे या कर सकता है तो उसे उसके कर्म के अनुसार वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण मान लेना चाहिए।

गान्धी इसके विपरीत थे। वे जन्मना वर्ण के हामी थे। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण सभी को जन्मना ही शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण मानना चाहिए, कर्मणा नहीं। उसे अपने जन्म से प्राप्त वर्णगत कार्य करके ही जीविका-निर्वाह करनी चाहिए। वर्ण का सिद्धान्त ही जीविका-निर्वाह तथा लोक-मर्यादा की रक्षा करने के लिए बनाया गया है। यदि कोई आदमी किसी ऐसे काम के योग्य है जो उसे उसको

जन्म से नहीं मिला, तो वह व्यक्ति उस काम को कर सकता है बशर्ते कि वह उस कार्य से जीविका-निर्वाह न करे, उसे वह निष्काम भाव से, सेवाभाव से, करे और जीविका-निर्वाह के लिए अपना वर्णगत, जन्म से प्राप्त कर्म करे (द्र० हि० ध० पृ० ३६०—३८८)।

खान-पान और शादी-विवाह में उन्होंने कहा कि कोई बन्धन नही होना चाहिए। सभी वर्णों में परस्पर खान-पान और शादी-विवाह होने चाहिए। लोगों के प्रश्न पूंछे जाने पर कि तब वर्ण की मर्यादा क्या रहेगी ? उन्होंने कहा कि वर्ण पिता के अनुसार निश्चित किया जाय, जैसी कि प्रचलित प्रथा है, माता के अनुसार नही। चूंकि वर्ण केवल सामाजिक-नैतिक सस्था है, न कि धार्मिक, अत. इस प्रकार करने से हिन्दू धर्म की कथमपि क्षति नहीं होती। वर्ण के कारण किसी से वेदादि के पढ़ने तथा मन्दिर में जाने के अधिकार छीने नही जा सकते। सभी मनुष्य बराबर हैं। सबके अधिकार बराबर है। सभी को सब कर्म करने की स्वतन्त्रता है। पर जैसे सब प्रकार की स्वतन्त्रता मे कुछ नियन्त्रण रहता है वैसे कर्म की स्वतन्त्रता में भी यह नियन्त्रण है कि पिता के वर्ण के अनुकूल जीविका-निर्वाह के लिए कोई पेशा अख्तियार करना चाहिए और अन्य सभी कर्म अवैतनिक और सेवाभाव से करना चाहिए।

स्पष्ट है कि गान्धी ने जैसा चाहिए वैसे ही वर्ण के सनातन सिद्धान्त की रक्षा की। इस युग में इस की आवश्यकता थी। जन्मना वर्ण को बदलकर कर्मणा वर्ण मान लेने से लोक संघर्ष बढ़ जायगा, बेकारी बढ़ेगी, कतिपय कर्म बन्द हो जायेंगे और फलत समाज का उच्छेद हो जायगा।

एक दृष्टि से सभी हिन्दू ब्राह्मण हैं क्योंकि उन्हें अपने-अपने वर्ण-गत कर्म को निष्काम भाव से करने से ब्रह्मविद्या प्राप्त हो सकती है, मोक्ष मिल सकता है। दूसरी दृष्टि से सभी लोग आज शूद्र हैं क्योंकि वे समाज के सेवक हैं, वे श्रमजीवी हैं। स्मृति भी कहती है—

कलौ न क्षत्रिया: सन्ति कलौ नो वैश्यजातय:।
ब्राह्मणाश्चैव शूद्राश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतम् ॥

अर्थात्

कलियुग (वर्तमान युग) में न क्षत्रिय हैं न वैश्य लोग। कलि में ब्राह्मण और शूद्र दो ही वर्ण माने गए हैं।

जो शारीरिक श्रम करके जीविका-निर्वाह करे वह शूद्र और जो बौद्धिक श्रम करके जीविका-निर्वाह करे वह ब्राह्मण। फिर जब बौद्धिक और शारीरिक श्रम का भेद न रह गया, बुद्धिजीवियों के लिए शरीर-श्रम अनिवार्य रखा गया और शरीर-श्रमजीवियों के लिए बुद्धि-श्रम का विधान किया गया तो निःसन्देह सभी शूद्र हो गए। पर इसे बुरा न समझना चाहिए। यदि इसके साथ यह भी मानें कि सभी ब्राह्मण हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं और सिर्फ सेवा-भाव के लिए श्रम-जीवी हैं तो वस्तु-स्थिति बहुत सन्तोषजनक हो जाती है।

वर्ण की संस्था धार्मिक न होकर सामाजिक-आर्थिक है। इसीलिए गान्धी इसे केवल हिन्दुओं के ही लिए नही वरन् ईसाइयों और मुसलमानों के लिए भी, अर्थात् प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक समझते हैं (द्र० हि० ध० पृ० ३६३)।

"आश्रम वर्ण का अनिवार्य अनुषंगी है (वही पृ० ३६२)।" ये चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। मनुष्य की आयु १०० साल की सामान्यत: मानी जाती है। मनुष्यता की सभी विशेषताओं को विकसित करने के लिए इस आयु को चार बराबर भागों में बाट कर २५-२५ वर्ष के लिए क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की व्यवस्था की गई है। आज ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ तो बिलकुल लुप्त हो गये हैं। गृहस्थ और सन्यास आश्रम अत्यन्त दूषित रूप में चल रहे हैं। शंकराचार्य की भाँति गान्धी ने भी समझा कि भारतीय संस्कृति की सनातन समृद्धि का मूल कारण आश्रम की संस्था

है और इस कारण उन्होंने इसका पुनरुद्धार किया। "चारों आश्रम प्रगति के सोपान हैं और अन्योन्याश्रय हैं। इसलिए कोई वानप्रस्थ और संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के नियमों का पालन नहीं करता। आश्रम का नियम आज लुप्त है। इसको तभी पुनर्जीवित किया जा सकता है जब कि वर्ण के नियम का पालन किया जाय क्योंकि दोनों का अपरिहार्य संबन्ध है (हि० ध० पृ० ३७८-३७६)।"

चारों आश्रम की जड़ ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की चर्या ही चारों का लक्ष्य भी है। ब्रह्मचर्य का विधान गान्धी वैसे ही करते हैं जैसे कि प्राचीन ऋषियों ने किया था। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।

गृहस्थ के लिए गान्धी ने कुछ अर्वाचीन नित्य कर्म दिया जैसे चर्खा-यज्ञ। इसको ही उन्होंने नित्य कर्म की परंपरा की भाँति अन्य आश्रमों का आधार माना। शरीर-श्रम, आतिथ्य-सत्कार, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए मैथुन, नित्य भगवत्प्रार्थना (व्यक्तिगत तथा पारिवारिक) और देश की यथाशक्ति सेवा करना—उन्होंने अर्वाचीन गृहस्थ आश्रम का अन्य आवश्यक कर्म माना। वानप्रस्थ का तो उन्होंने आज प्रचुर प्रचार किया। यह उन लोगों का आश्रम है जो गृहस्थ आश्रम छोड़कर ब्रह्म की खोज में जंगल जाया करते थे। गान्धी ने इसको थोड़ा बदल दिया। उन्होंने ब्रह्म की खोज में गृहस्थ आश्रम को छोड़कर समाज में रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय कर्म करने की व्यवस्था की। इन्हीं लोगों को राष्ट्रीय नेता बनना है, राष्ट्र का कर्णधार बनना है। इनका परिवार समस्त समाज होता है। इस कारण ये पक्षपातरहित होते हैं। सभी के लिए वानप्रस्थ आवश्यक है, इस कारण यह प्रजातांत्रिक भी है। गान्धी के नए अर्थ को देखकर इसे हम समाजप्रस्थ भी कह सकते हैं।

संन्यास आश्रम का भी गान्धी ने कुछ नया अर्थ किया। वे वेश-भूषा और दण्ड-कमण्डल को संन्यास का अंग नहीं मानते थे। संन्यासी

वह है जो पूर्ण अनासक्त है, निष्काम है, तथापि अपना नित्य कर्म करता है। उसका सदा ध्यान ब्रह्म पर रहता है। अन्त में वह ब्रह्म हो जाता है। निष्काम सेवा करना संन्यासी का अनिवार्य लक्षण है। गान्धी के वानप्रस्थ को पूर्ण निष्काम बना देने से वह संन्यास बन जाता है। प्राचीन संन्यास से इस संन्यास को भिन्न करने के लिए आज प्रायः इसको सामाजिक संन्यास या राजनैतिक संन्यास कहा जाता है। संन्यास के आरंभ में मनुष्य कुछ न कुछ पद पर निष्काम काम कर सकता है। पर अन्त में उसे अपने पद से बिलकुल अवकाश लेना पड़ता है। इस अवकाश की अवस्था में उसे केवल ज्ञानवार्ता तथा नित्य कर्म करना पड़ता है।

रचनात्मक कार्यक्रम

समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए गान्धी ने रचनात्मक कार्यक्रम को देश के सामने रखा। उनके कर्ममार्ग का आवश्यक अंग समाज-सेवा है। व्यक्ति को अपने तक ही सीमित रहने पर सच्चा सुख नहीं मिलता। सत्याग्रही दार्शनिक ज्यों-ज्यों प्रगति करता है त्यों-त्यों उसका अपना अस्तित्व विस्तृत होता जाता है। उसका 'स्वधर्म' बढ़ता जाता है। वैयक्तिक जीवन के निर्वाह हो जाने पर सत्याग्रही दार्शनिक को व्यक्तित्व से समाजत्व को प्राप्त करना है। व्यक्ति को समाज बनना है। तब वह अपने में समाज को और समाज में अपने को देख पायेगा। कुछ इन्हीं दृष्टिकोणों से गान्धी ने सेवा-धर्म स्वीकार किया। उनका कहना है कि "मैं जो इस प्रकार समाज-सेवा में तन्मय हो गया था उसका कारण आत्मदर्शन की आकांक्षा थी। ईश्वर की पहिचान सेवा से ही होगी यह मानकर मैंने सेवाधर्म स्वीकार किया था। भारत की सेवा करने का कारण यह था कि वह मुझे सहज प्राप्त थी, उसकी ओर रुचि थी। उसे मुझे ढूंढने नहीं जाना पड़ा था (आ० पृ० १६६)।"

सेवा करने के लिए गान्धी ने आश्रमों की स्थापना की और वहाँ से सेवकों को उत्पन्न किया। उनके सामने उन्होंने एक रचनात्मक कार्य-क्रम रखा जिसमे १६ बातें हैं। उनकी इच्छा थी कि कांग्रेस तथा समस्त भारतीयजन इन कामों को करें और कहना नहीं होगा कि इसमें उनको सफलता भी काफी मिली।

१६ कार्य ये हैं :—कौमी-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, खादी, दूसरे ग्रामोद्योग, गांवों की सफाई, बुनियादी तालीम, प्रौढ़-शिक्षा, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलना, आरोग्य के नियमों की शिक्षा, प्रान्तीय भाषाओं का विकास, राष्ट्रभाषा का विकास, आर्थिक समानता, किसानों की उन्नति, मजदूरों की भलाई, आदिवासियों का सुधार, कुष्ठरोगियों की सेवा, विद्यार्थियों का कर्त्तव्य तथा गो-सेवा। इन कार्यों से देश मे सामाजिक सेवा की चेतना उत्पन्न हुई। गान्धी ने देश के प्रत्येक कोने को अपनी सेवा से पहिचाना और लोगों ने उन्हें भी पहिचाना। सेवा से उनको अवसर मिला कि वे अपने हृदय का अपनी अन्तरात्मा का, समस्त भारतीयों की अन्तरात्मा से तादात्म्य स्थापित करें। सच्ची सेवा की भावना उत्पन्न करने के लिए वे कुष्ठ-रोगियों की सेवाशुश्रूषा करने को कहते थे। समाज में कुष्ठरोगी बहुत पापी, घृणित और त्याज्य माना जाता है। उसकी सेवा करने से किसे प्रेम नही मिल सकता, कौन घृणा और द्वेष को अपने हृदय से निकाल नहीं सकता ?

ग्रामोद्योग, खादी और गोसेवा गान्धी के प्रधान कार्य थे। ग्रामोद्योगों को वे इसलिए आवश्यक समझते थे कि उससे हमारे ग्राम परिपूर्ण हो सकते थे। गान्धी को प्रायः लोग औद्योगीकरण का विरोधी मानते हैं। सचमुच उन्होंने यन्त्रों द्वारा औद्योगीकरण की प्रधानता नही दी। पर उन्होंने उससे ग्रामोद्योगों की सहस्थिति कायम की है। उनके सामने कुछ परिस्थितियाँ थी जिनके कारण उन्हें ग्रामोद्योगों को औद्योगी-करण से अधिक महत्त्व देना पड़ा। आज की भिन्न परिस्थियों में हम

दोनों का समन्वय दूसरी तरह से भी कर कसते हैं। पर छोटे उद्योग-धन्धों को समूल उच्छेद करने में अहित है। इससे सामाजिक क्षति होगी। दार्शनिक सत्यार्थी को अपने कुटीर उद्योग-धन्धों से जितना सत्य का दर्शन प्राप्त होता है उतना मशीनों के कारखाने मे काम करने वालों को नही हो सकता।

खादी पर जोर देते हुए गान्धी ने सूत कातना, बुनाई करना आदि पर जोर दिया। खासतौर से चरखे से सूत कातना उनकी मुख्य शिक्षा थी। वे सदा कहते थे कि चरखा उनके दर्शन का प्रतीक है। चरखे का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। उससे जितना आर्थिक लाभ होता है उससे कई गुना आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक लाभ होता है। चरखे का सगीत निराला है। तिरुवल्लुकर, कबीर और इमाम ग़ज्जाली महान् रहस्यवादी थे। वे भी बुनकर का पेशा करते थे। एक तामिल का, दूसरा हिन्दी का और तीसरा अरबी का सर्व श्रेष्ठ महान् रहस्यवादी है। कातने और बुनने में जो आध्यात्मिक लाभ तिरुवल्लुकर, कबीर और ग़ज्जाली को हुआ था, उससे कम गान्धी को नही हुआ था। भावों को वश में करने के लिए, उनका नियत्रण करने के लिए, उन्हें एकनिष्ठ बनाने के लिए, व्यर्थ समय-यापन का दूर करने के लिए, ध्यान बढ़ाने के लिए, जितना कमाना उतने पर ही निर्वाह करने के लिए, कल की चिन्ता न करने के लिए आत्मविश्वास पाने के लिए, सामाजिकों के पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग को समझने के लिए और इस प्रकार कितने ही अन्य कार्यों के लिए प्रति दिन नियमित चर्खा कातना या इस प्रकार का कोई अन्य कार्य करना अत्यंत उपयोगी है। स्पिनोजा का शीशा साफ करना और बनाना, जर्मन ध्यानयोगी बाहमी का जूता बनाना, संत रविदास का जूता बनाना, आदि उदाहरण भी हमारे सामने प्रस्तुत हैं जिनसे पता चलता है कि कोई न-कोई छोटा-मोटा हाथ का काम करने से आध्यात्मिक जीवन मे लाभ होता है। चरखा शरीर-श्रम, प्रगति या विकास तथा आध्यात्मिक अनुभव का प्रतीक है। कुमरप्पा

का कथन ठीक है कि गान्धी के लिए यह आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, नैतिक और सांस्कृतिक कामनाओं को पूर्ण करने वाला है (वि० भा० पृ० ३५)। डा० रानडे ने चरखे या चक्र के सात ऐतिहासिक उदाहरणों को खोज निकाला है जिनके अनुसार इसका दार्शनिक मूल्य निर्धारित होना चाहिए। (१) गीता का यज्ञ-चक्र जिसको गान्धी चर्खा यज्ञ कहते हैं और चर्खा पुराण की चर्चा करते हैं (द्र० गी० मा० पृ०-३७)। यज्ञ-चक्र के विषय मे गान्धी गीता का निम्नलिखित वाक्य मानते हैं—

एव प्रवर्तित चक्र नानुवर्तयतीह य.।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति ।। गीता ३।१६

(२) इस्लाम मे स्वर्गीय चक्र का वर्णन है। यह मिस्र के दार्शनिक काजी नोमन बेन मुहम्मद की रचनाओं मे मिलता है। इसमें ब्रह्मांड को चक्र रूप समझा गया है। (३) ऋग्वेद और बृहदारण्यक उपनिषत् में भी विश्वचक्र का वर्णन है जिसके अनुसार विश्व की समस्त वस्तुएँ चक्र से निकले ताने-बाने के रूप में है। (४) भागवत पुराण में नक्षत्रतारा-ग्रहसकुल शिशुमार-चक्र के नाम से खगोल शास्त्रीय ढग से इसी विश्वचक्र का निरूपण है। (५) गौतम बुद्ध ने अपने धर्म-चक्र में द्वादश निदानों को चक्राकार बताया है और इतना ही नहीं बल्कि संसार को चक्रवत् नित्य परिवर्तनशील भी समझा है। (६) कबीर ने "आठ कमल दल चर्खा डोलै" वाले योग के आठ चक्रों की धारणा की थी जिनका दर्शन योगियों को ही हो सकता है। पर इन छ चक्रों से महान् और इनका मूलरूप सुदर्शन चक्र है जिसका श्रेष्ठ उदाहरण वह है जिसने परीक्षित् की मां के पेट में रक्षा की और जिसको परीक्षित् सदा अपनी रक्षा करते हुए देव के रूप में देखते थे। "चक्र सुदर्शन है रखवारा" यह प्रसिद्ध लोकोक्ति इसी चक्र को बतलाती है। यह सुदर्शन-चक्र चल भी है, स्थिर भी है। तदेजति तन्नैजति इस ढग से ईशावास्योपनिषद् ने इसका वर्णन किया है। सुदर्शनचक्र ही अन्य छ चक्रों का

प्राण है। इसी का संगीत निराला है। इसी के बारे में कबीर कहते हैं—

चर्खा तेरा रंग फिरगी
गुंइ गुंइ गुंइ बोले

इस प्रकार चर्खा यज्ञचक्र के रूप में आर्थिक, सामाजिक और नैतिक दुःखों को दूर करता है, स्वर्गीयचक्र, विश्वचक्र तथा शिशुमार चक्र या खगोल चक्र के रूप मे उदात्त भावनाओं को देता है, धर्मचक्र के रूप में ससार की तात्त्विकता पर प्रकाश डालता है और प्रगति या विकास का बोध कराता है, योग-चक्र के रूप में ध्यान-धारणा को निर्धारित करता है और सुदर्शनचक्र के रूप मे ज्ञान का प्रदाता है तथा सब तरह से रक्षक है। डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर को चर्खे के इन मूल्यों पर शंका थी, आपत्ति थी और उन्होंने इसका विरोध भी किया। पर गान्धी ने उनके विरोध का कड़ा जवाब दिया और चर्खे के सप्तविध महत्त्व को स्थापित किया (द्र० रान० पृ० ११-१५)।

गो-सेवा को गान्धी बहुत व्यापक अर्थ देते थे। इससे वे भूतमात्र की सेवा समझते थे। गाय भूतमात्र की प्रतीक है। वह दया की मूर्ति है। उसकी सेवा करने का अभिप्राय है पशुमात्र से, जीवमात्र से, या भूतमात्र से प्रेम करने का पाठ सीखना।

सेवा से हम अपनी शक्ति को पहिचानते हैं। दूसरे हमे पहिचानते हैं। हम प्रेम और दया का पाठ सीखते हैं। गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम का आधिक लक्ष्य यही था यद्यपि कि वह अप्रत्यक्ष था और प्रत्यक्ष लक्ष्य आर्थिक तथा सामाजिक और राजनीतिक सुधार ही था। पर गान्धी के साथ काम करने वालों का मत है कि स्वयं गान्धी इन कार्यों के आध्यात्मिक प्रभाव पर अधिक महत्त्व देते थे।

सत्याग्रह या असहयोग आन्दोलन

हम वर्णकर्म को वैयक्तिक या पारिवारिक कर्म, रचनात्मक कार्यक्रम को सामाजिक या राष्ट्रीय कर्म और सत्याग्रह आन्दोलन को राज-

नैतिक कार्य कह सकते हैं। गान्धी दर्शन की उस व्यापक परिभाषा को मानते थे जिसके अनुसार वह सभी शास्त्रों और कलाओं का आदि, मध्य और अवसान है। राजनीति भी उनके दर्शन का अंग है। राजनैतिक स्वतन्त्रता न होने से सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। सामाजिक स्वतन्त्रता न होने से पारिवारिक और वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। अत. जिसे सच्ची वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, जिसे अपने सच्चे अस्तित्व को देखना है, उसे राजनीति मे भी उतरना पड़ेगा। हां, यदि राजनैतिक स्थिति ऐसी है कि उससे सत्याग्रही दार्शनिक को किसी प्रकार का नुकसान नही होता तो वह राजनीति से दूर रह सकता है। पर यदि राजनैतिक स्थिति स्वस्थ नही है, यदि राष्ट्र परतन्त्र है अथवा यदि राष्ट्र की सरकार अच्छी नही है, तो फिर सत्याग्रही दार्शनिक को राजनीति में भी कूदना पड़ता है।

यही कारण था कि गान्धी राजनीति मे उतरे। उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन किया। यह आन्दोलन विदेशी सरकार के साथ लड़ाई थी। पर यह अहिंसा की लड़ाई थी। इसमे लड़ने वाला खुद अपने ऊपर आपत्ति लाता था, जेल जाता था, यातनाएं सहता था, पर मन, वाणी और कर्म से अपने शत्रु को चोट नहीं पहुँचाता था, उल्टे वह अपने शत्रु का प्रेम करता था। इस लड़ाई के फलस्वरूप भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली और गान्धी राष्ट्रपिता कहलाए।

प्राय. लोग गान्धी को राजनैतिक सत्याग्रही के रूप मे ही जानते हैं। यद्यपि गान्धी ने बार-बार कहा कि मैं आध्यात्मिक हेतुओं से ही राजनीति के क्षेत्र मे उतरा हूं, मेरे राजनैतिक जीवन का लक्ष्य हरि-दर्शन है, तथापि लोगों ने उनकी बात पर संशय किया। लोगों ने उनको कूटनीतिज्ञ समझा। पर जो व्यक्ति सदा सच्चाई से जीवन बिताता है, जिसने सदा सत्य बोलने का अखंड व्रत लिया है, उसके शब्दों मे विश्वास न करना बहुत बुरी बात है। यह मनुष्य की उस कमजोरी को बतलाती है कि मनुष्य मनुष्य में विश्वास न करे। भूल-

कर भी गान्धी के मुख से कभी ऐसा शब्द नहीं निकला जिसके आधार पर यह कहा जाय कि उन्होंने कूटनीति की दृष्टि से कहा कि वे राजनीति में आध्यात्मिक हेतुओं से भाग ले रहे हैं। उनके साथियों ने उनको पहिचानने में भूल न की। उनका एकस्वर से मत है कि गान्धी मुख्यतः आध्यात्मिक थे और गौणतः राजनैतिक। उनकी राजनीति आद्योपान्त आध्यात्मिक है। गान्धी का बड़प्पन उनकी बहादुरी के संग्रामों की अपेक्षा उनके पवित्र जीवन तथा आत्म-शक्ति के प्रदर्शन में अधिक है, विशेषतः उस युग में जब कि इनका मूल्य घट रहा था (द्र० रा० पृ० ५३)।

गान्धी का विचार था कि जैसे सत्याग्रह आन्दोलन से भारत को राजनैतिक स्वाराज्य (स्वतन्त्रता) मिला, वैसे रचनात्मक कार्यक्रम से भारतीय समाज को सामाजिक और आर्थिक स्वाराज्य मिलेगा और वर्णाश्रम धर्म से व्यक्ति तथा परिवार को नैतिक स्वाराज्य मिलेगा। स्वाराज्य के इन त्रिविध रूपों की प्राप्ति होने से ही हम कह सकते हैं कि किसी भारतीय व्यक्ति को पूर्ण स्वाराज्य मिल सकता है।

एकादश व्रत

वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह आन्दोलन सब को करने में निष्कामता होनी चाहिए। यह निष्कामता एकादश गुणों के सम्पादन से प्राप्त हो सकती है। एकादश गुणों को व्रत भी कहा जाता है क्योंकि इनका व्रत की तरह पालन होना चाहिए अर्थात् स्वेच्छा से दृढ़ सकल्पपूर्वक इन पर आचरण करना चाहिए। ये एकादश व्रत मराठी में विनोबा के शब्दों में यों हैं—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन ॥
सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये ॥

अर्थात्

अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, अभय, सब धर्मों के प्रति समानता, स्वदेशी और अस्पृश्यता निवारण, इन ग्यारह व्रतों का सेवन व्रत के निश्चय से करना चाहिए।

इनमें से प्रथम पॉच को योग की भाषा में यम कहते हैं। शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण को गान्धी ने परम्परागत पांच यमों मे अपने अनुभव के अनुसार जोड़ा है। अभय को छोड़कर शेप पॉच गान्धी की मौलिक देनें है। शरीर श्रम, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण ये चारों गुण या व्रत गान्धी के रचनात्मक कायक्रम के सारभूत है।

इन सब गुणों या व्रतों की जान अहिंसा है। अहिंसा सब गुणों की गुणना है, ठीक वैसे ही जैसे एक ईश्वर सभी देवों का देवता है। सभी गुणों के स्वरूप को समझ लेने पर हम इस सिद्धान्त की विवेचना करेंगे।

अहिंसा

गान्धी 'अहिसा परमो धर्म', अहिसा सबसे बड़ा धर्म है, यह मानते थे। बौद्ध, जैन तथा योग दर्शनों मे अहिसा की परिभाषायें मिलती हैं पर वे इतनी व्यापक नही हैं जितनी कि गान्धी द्वारा दी गई अहिसा की परिभाषा। उनका कहना है— "यह अहिसा किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। (ध० नी० पृ० २३)" "अहिसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम (वही पृ० १२६)। बौद्ध धर्म दर्शन मे जो अर्थ करुणा का है अथवा वैष्णव दर्शन मे जो अथ दया का है, वही अहिंसा का सार है। न धर्मो दयापरः— दया से बढ़ कर कोई धर्म नही है और अहिसा परमो धर्मः— और

सुरक्षित किये जा रहे हैं, अतः वे केवल हिंसा से ही नष्ट किये जा सकते हैं, एक अनन्त कुचक्र पैदा करता है, अनवस्था-दोष उत्पन्न करता है; क्योंकि समाज की विद्यमान व्यवस्था के खिलाफ कुछ लोगों की काल्पनिक या वास्तविक शिकायतें सदा रहेगी और वे दावा करेंगे कि उन्हें नैतिक ऋणों से छूट दी जाय ताकि वे हिंसा या मारकाट द्वारा अपने अधिकार रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। हिंसा के इस कुचक्र को कहीं खत्म करना है, अन्यथा यह बढ़ता ही जायगा। गान्धी चाहते है कि इस दूषित चक्र को भंग करने का प्रथम सौभाग्य उनके देश भारत को मिले (वि० भा० पृ० १३)।" कहना नहीं होगा कि गान्धी की यह मनोकामना पूर्ण होगई।

स्पष्ट है कि हिंसा को हिंसा के द्वारा समाप्त करने में अनवस्था दोष है। हिंसा हिंसा के द्वारा कथमपि समाप्त नहीं की जा सकती। अतः यदि उसको दूर करना है, तो एक मात्र उपाय अहिंसा का अवलम्बन है।

निर्मलकुमार बोस ने इस सिद्धान्त पर और प्रकाश डाला— "सत्य प्रमेय है। उसको प्राप्त करने का साधन अहिंसा है। सत्य से अहिंसा पर जा पहुँचना गांधी के लिए तर्कसम्मत तथा स्वाभाविक कदम था। चूँकि कोई दो पुरुष सत्य को कभी एक ही तरह नहीं देखेंगे, इसलिए उन्होंने तर्क किया कि किसी को सत्य के अपने निजी अनुवाद का प्रचार करने के लिए हिंसा की शरण नहीं लेनी चाहिए। उसका सुन्दर तरीका यही है कि जहाँ तक सत्य की प्राप्ति हुई है, उसके आधार पर अपना जीवन बिताया जाय और जब बलिदान तथा सहिष्णुता की माँग हो तो अपनी सत्यनिष्ठा के फलस्वरूप दुःख उठाया जाय, बलिदान किया जाय। सत्य के लिए दुःख उठाना सत्य को पवित्र बनाता है। वह हमारी ईमानदारी की परीक्षा लेता है। जब हम भूल करते हैं तो यह हमें ठीक रास्ते पर लाता है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति हिंसा का अवलम्ब लेता है, तो वह नहीं जानता कि वह कहाँ पर खड़ा है,

क्योंकि जो गर्व हमें सुझाता है कि हमें सम्पूर्ण सत्य मिला है और इस कारण हमे हक है कि हम सत्य का संकुचित दृष्टिकोण रखने वालों को दड दें, वह हमको इतना अन्धा बना देता है कि हम उस लकीर के फकीर बन जाते है जिसने हमारी प्रगति को रोक रखा है। विज्ञान की आत्मा के साथ निश्चितता की भावना का मेल नहीं बैठता। अतः नम्रता, हिंसा से परहेज रखने का दृढ़ सकल्प और सत्य के अपने सीमित या सङ्कुचित दृष्टिकोण को प्रचार करने के लिए परिश्रम तथा आत्म-बलिदान का मार्ग अपनाना गांधी की मूलतः वैज्ञानिक तथा जनतान्त्रिक दृष्टियों के तर्कसङ्गत निष्कर्ष हैं (वही पृ० २६)।"

अहिंसा अचूक है, वह कभी नाकाम नहीं जाती। "सची अहिंसा की ताकत का एक माशा भी कभी जाया नहीं जा सकता (प० अ० पृ० १६७)। लोगों की शङ्का पर कि गांधी की अहिंसक सेना के अधिकांश भारतीयों ने १६४७ मे पंद्रह अगस्त के आस-पास खून-खच्चर किया है, हिन्दू-मुस्लिम ने एक दूसरे का बध किया, गांधी ने स्वीकार किया कि उन्होंने जो कुछ सिखाया उससे लोगों ने अहिंसा के बजाय मन्द विरोध ही सीख सके थे। अहिंसा मन्द-विरोध नही है।

"अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावनाप्रधान प्रवृत्ति है (गा० स० पृ० १)।" इस प्रकार किशोरलाल मशरूवाला तथा रिचर्ड ग्रे ने अपनी-अपनी पुस्तकों मे अहिंसा की शास्त्रीय व्याख्या की है। अब तो वह विज्ञान हो गया है। किशोरलाल भाई ने बिलकुल ठीक कहा है कि यद्यपि अहिंसा तत्त्व को प्राचीन ऋषियों ने खोजा था तथापि गांधी ने ही अपने जीवन मे प्रयत्न करके आविष्कार किया कि "हिंसा के समान इसका (अहिंसा का) भी नानाविधि उपयोग और विकास हो सकता है, यह एक बलवान् शक्ति है, और इसके गर्भ में अनेक प्रसुप्त और अनाविष्कृत विद्यायें (प्रयुक्तियाँ) होनी चाहिए (वही प० ३)।"

जैनियों ने अहिंसा पर अधिक जोर दिया। पर उनकी अहिंसा कर्म-संन्यास पर निर्भर थी। वह विरक्तों की अहिंसा थी। गान्धी की अहिसा कर्मक्षेत्र की अहिंसा है, वह क्रियाशील है। (द्र० हि० धा० पृ० २२६-२३२)।

अहिसा कमजोरों का साधन या शस्त्र नहीं है वह बलवानों का हथियार है। "दुनिया मे सबसे बड़ी शक्ति लोकमत है और वह सत्य और अहिंसा से पैदा हो सकती है (प्रा० १ पृ० १४३)।' "बहादुरी तो मुझमे तब आयगी जब मैं मारा जाऊँ। तो भी मारने वाले के भले के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूं। ईश्वर का नाम भी मैं केवल मुँह से न लूंगा, पर उसे अपने हृदय मे जिन्दा बैठा हुआ देखूँगा (वही पृ० ११६)।" जो कमजोर है, जो डरपोक है, वह अहिसक नहीं हो सकता। साहसी और बलवान् ही अहिंसक हो सकता है। फिर वही महसूस करेगा कि पशुबल, बाहुबल, से कहीं अधिक आत्मबल है जो अहिंसा द्वारा ही मिलता है।

गान्धी ने अहिंसा की सफलता की कुछ शर्तें यों बतलायीं।

१—"अहिंसा परम श्रेष्ठ मानवधर्म है, पशुबल से वह अनंत गुना महान् और उच्च है।

२—अन्ततोगत्वा वह उन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वर मे सजीव श्रद्धा नहीं है।

३—मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सबसे बड़ी रक्षक है। हाँ, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति की हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती, हालाँकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है।......

४—जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा का अवलम्बन करना चाहें, उन्हें आत्मसम्मान को छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्र को तो एक-एक आदमी) गँवाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरों

के मुल्कों को हड़पने, अर्थात् आधुनिक साम्राज्यवाद से, जो कि अपनी रक्षा के लिए पशुबल पर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नही खा सकता।

५--अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उस करुणामय मे तथा मनुष्य मात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धान्त बना ले तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त होना चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

६--यह समझना एक जबदस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है, जनसमूह के लिए नही। जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है उतना ही वह राष्ट्रों के लिए भी धर्म है (गी० मा० पृ० ५६६-५६७)।"

अहिंसा का अभ्यास करना आवश्यक है, केवल उसका विचार किसी को अहिंसक नही बना सकता। रिचर्ड ग्रेग बिलकुल ठीक कहते हैं कि अहिंसा का अभ्यास न करने के कारण अहिंसा का सिद्धान्ततः समर्थन करने वाले आइनस्टाइन, बर्ट्रेण्ड रसल तथा ए० ए० मिल्ने ने जब उनके देश पर आक्रमण किए गए तब विगत विश्व युद्ध का समर्थन किया (द्र० ग्रे० पृ० १४७)। अहिंसक कभी युद्ध का समर्थन नही कर सकता, आक्रमणकारियों से सुरक्षा करने के लिए भी। गान्धी का कहना है कि जब दो राष्ट्रों के बीच युद्ध हो तो अहिंसा को मानने वाले व्यक्ति का धर्म उस युद्ध को रोकना है। जो उस धर्म का पालन न कर सके जिसमे विरोध करने की शक्ति न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध कार्य मे शामिल हो जाय और शामिल होते हुए भी उसे चाहिए कि उसमे से अपने आप को, अपने देश को और वैसे ही जगत् को उबारने मे भी दिल से कोशिश करता रहे (आ० प० ४४२)।" इस प्रकार कहकर गान्धी ने भी सन् १९१४ की लड़ाई में अहिंसक की तरह भाग लिया और उन्होंने उस

युद्ध का समर्थन किया। अहिंसा का सम्यक् विकास न होने से आत्म-रक्षा के लिए कोई देश या राष्ट्र युद्ध का सहारा ले सकता है। पर यदि कोई अहिंसा का महाभ्यासी हो जाय तो बिना युद्ध के ही वह उस राष्ट्र की रक्षा कर या करवा सकता है। यदि उसने संसार में अहिंसा के पक्ष में और हिंसा के विपक्ष में जबर्दस्त लोकमत बनाया है तब वह बिना युद्ध के ही अपने देश की सुरक्षा कर सकता है। अतः अहिंसक को लोकमत बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए।

गान्धी का विचार था कि जैसे उन्होंने देश को सिखाया कि अहिंसा से वह स्वाराज्य प्राप्त करे और उसने वैसा प्राप्त किया, वैसे ही वे संसार के राष्ट्रों को सिखाना चाहते थे कि वे अहिंसा द्वारा ही अपने दुश्मनों से रक्षा करें। ऐसा करने में उन्हें अपनी मानवीय कमजोरियों को और दूर करना पड़ता। वे ऐसा नहीं कर सके। पर उनका इस सिद्धान्त में विश्वास था और वे कहा करते थे कि अहिंसा का विज्ञान जो आज बचपन में है, विकसित हो जाने पर वह कर दिखलायेगा। अहिंसा में वह शक्ति है, हाँ, हम मनुष्यों में भले उसे प्राप्त करने की कम शक्ति हो।

यदि हम इस ओर दृष्टिपात करें तो भारत तथा एशिया के अन्य राष्ट्रों द्वारा मान्य पञ्चशील का सिद्धान्त हमें अहिंसा का ही अन्तार्राष्ट्रीय स्तर पर विकास सिद्ध होगा। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की प्रचार-समितियाँ भी अहिंसा के पक्ष में और हिंसा के विपक्ष में लोकमत पैदा करके अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा के युद्ध का निवारण अहिंसा के युद्ध से करवा सकती हैं।

फिर भी गान्धी मानते थे कि अहिंसा का पूर्णतया पालन करना मनुष्य के लिए कठिन है "अहिंसा व्यापक वस्तु है। हिंसा की होली की लपेट में आए हुए हम पामर प्राणी हैं। 'जीवहिं जीव अधार' गलत बात नहीं है। मनुष्य क्षण भर भी बाह्य हिंसा के बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, सब कर्मों में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। उस हिंसा से निकलने का उसका

महा प्रयास हो, उसकी भावना में केवल अनकंपा हो, वह छोटे से छोटे प्राणी का भी नाश न चाहे और यथाशक्ति उसे बचाने की कोशिश करे, तो वह अहिसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति मे निरनर संयम की बुद्धि होगी, उसमे निरन्तर करुणा बढ़ती जायगी, पर कोई देहधारी बाह्य हिसा से सर्वथा मुक्त नही हो सकता।

'इसके सिवा अहिसा मे अद्वैत-भावना समाई हुई है और यदि प्राणिमात्र मे अभेद है तो एक के पाप का असर दूसरे के ऊपर होना लाजिमी है। इस वजह से भी मनष्य हिसा से नितांत अछूता नही रह सकता। समाज मे रहने वाला मनुष्य समाज की हिसा में बिना चाहे भी साझी बनता है (आ० नृ० ४४१-४४२)।"

इतनी कठिनाइयों के बावजूद भी अहिंसा का पालन करना, उसका सङ्गठन करना, उसकी शिक्षा-दीक्षा देना, उसके लिए जनमत तैयार करना, मनुष्य का परम धर्म है।

खुद अपने लिए गान्धी कहते हैं कि "मेरे अन्दर अभी क्रोध है, मुझमे द्वैतभावना है। मैं अपनी वासनाओं को सङ्गठित कर सकता हूं, मैं उन पर नियंत्रण रखता हूं। पर सार्वभौम, सार्वत्रिक अहिंसा की शिक्षा देने के लिए मुझे वासनाओं से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए (फा० प० ४४)।" अतः वे पूर्णतया अहिसा को जानने तथा अभ्यास करने में अपनी कमजोरी स्वीकार करते हैं। पर अहिंसा के पूर्ण आदर्श का अप्राप्य होना उसका गुण ही है क्योंकि इससे इसके अनन्त विकास का क्षेत्र खुला रहता है, अनन्त काल तक कार्य करने की आवश्यकता बनी रहती है, और सभी लोगों के मत की विभिन्नता को मानना अनिवार्य हो जाता है। कहना नहीं होगा कि यह प्रत्येक आदर्श का भूषण है।

कभी-कभी हिसा भी अहिंसा हो जाती है। गान्धी ने एक बार अपने आश्रम मे रुग्ण बछडे को मरवाकर इसका प्रतिपादन किया। पर यह अपवाद बड़ी बुद्धिमानी से सोचने योग्य है। गान्धी का मत है कि

निम्नलिखित चार शर्तें जब सब की सब पूरी हों तभी अहिंसा की दृष्टि से किसी की जान ली जा सकती है—

"(१) जिस बीमारी से रोगी बीमार है उसे असाध्य होना चाहिए।

(२) जिन-जिन लोगों का उस रोगी से सम्बन्ध है वे सभी उसके जीवन के प्रति निराश हो गए हों।

(३) वह मामिला सभी सहायता तथा सेवा के परे हो।

(४) रोगी के लिए यह असम्भव होना चाहिए कि वह अपनी इच्छा व्यक्त कर सके (हि० ध० पृ० २३५)।'

इस परिस्थिति मे किसी रोगी को मार देने से हिंसा नहीं होती।

सत्य

सत्य के प्रसंग मे गान्धी की शब्दावली अनेकार्थक है। वे सत्य से तीन बातें समझते है—

१—सत्य का अर्थ सत् है। यह तत्त्ववैज्ञानिक अर्थ है।

२—सत्य का अर्थ सत्यता है या प्रमा है। यह ज्ञानमीमांसा का अर्थ है। इसका वर्णन हम ज्ञानमीमांसा के प्रसग में कर चुके है।

३—सत्य का अर्थ सच बोलना है, सत् को व्यवहार मे लाना है, सत्यता को आचरण मे उतारना है। यह नैतिक अर्थ है।

हम यहाँ सत्य के नैतिक अर्थ का ही बयान करेंगे। चूँकि तत्त्व वैज्ञानिक और ज्ञानमीमांसा सबन्धी सत् तथा सत्यता को प्राप्त करना ही सत्य है, इसलिए इसका अर्थ बहुत व्यापक है। वस्तुतः सत्य को तब तक नही समझा जा सकता जब तक कि हम सत् तथा सत्यता को न समझ लें। अभी हम यह जान लें कि गान्धी के अनुसार सत् एक ईश्वर ही है। शेष सब वस्तुयें असत् हैं और सत्यता उसकी सच्ची अनुभूति या उपलब्धि है, तो हमे सत्य को समझने में सरलता होगी।

सत्य हमारे व्यवहार या आचार मे रहता है। जब वह पूर्ण रूप से हो जाता है तो हम रह ही नही जाते, हमारा अस्तित्व ही नही रह

जाना, तब तो एक मात्र सत् ईश्वर ही रहता है। अतः हमारा अर्थात् जीवात्मा और ईश्वर का एकमेक होना पूर्ण सत्य को पाना है। पर चूँकि यह हमारे लिए आदर्श मात्र है, हम जब तक जीव हैं, जब तक हमारे शरीर है, तब तक हम इस आदर्श को नही पहुँच सकते हैं। अतः हमारे लिए सिर्फ इसकी ओर बढ़ना ही शेष रह जाता है। सत्याग्रह ही हमारे पल्ले पड़ा है।

सच्चा विचार करना, सच्ची बात बोलना तथा सच्चा काम करना—ये सत्य के त्रिविध रूप है। मुख्य बात है 'कथनी और करनी' को एक करना।

गान्धी का कहना है कि "सत्य के पुजारी के लिए मौन का सेवन उचित है। जाने-अनजाने भी मनुष्य अतिशयोक्ति करता है अथवा जो कहने योग्य है, उसे छिपाता है या भिन्न रूप मे कहता है। ऐसे सकटों से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलने वाला बिना विचारे न बोलेगा, अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा। अक्सर आदमी बोलने के लिए अधीर हो जाता है (आ० पृ० ७६)।"

एकबार स्कूल मे वे इतनी देर से कसरत करने गए थे कि सब लोग वहाँ से चले जा चुके थे। दूसरे दिन पूछे जाने पर कि आप क्यों नहीं कसरत करने आए ? उन्होंने बताया कि मैं आया था पर तब पहुँचा था जब कि सब लोग चले जा चुके थे। इस पर उन पर जुर्माना हुआ और झूठ बोलने का भी चार्ज लगाया गया। इस घटना से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि "सही बोलने और सही करने वाले को गाफिल भी नही रहना चाहिए' आ० पृ० १७)।"

चूँकि पूर्ण सत्य को समझना कठिन है। इस कारण सभी को अपने विचार-आचार को ही पूर्ण नही समझना चाहिए। अपने विचार-आचार वा औरों के विचार-आचार के साथ समन्वय करते रहना चाहिए। 'एक ही वस्तु भिन्न भिन्न संयोगों में भिन्न भिन्न रूप से देखी जा सकती है। पर मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह सदा साथ-साथ

ही चलते आए हैं। सत्याग्रह में इसकी अनिवार्यता मैंने अनेक बार अनुभव की है। इस समझौता-वृत्ति के कारण मुझे कितनी ही बार अपनी जान की जोखिम उठानी और मित्रा का असतोष सहन करना पड़ा है। पर सत्य व्रज के समान कठिन है और कमल के समान कोमल (आ० पृ० १८६)।"

सत्य का पालन कैसे हो ? इस पर प्रकाश डालते हुये गान्धी ने कहा "गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नही ? इम उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायँ तो सत्य की साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानी में बैठना सत्य को ढ.कन का रास्ता है। तत्काल जो समस्याये राज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही है उनम हम सत्य का पालन करे तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपने आप हो जायगा।

"इस दृष्टि से हममे से हरेक को केवल अपने आप को देखना है। अपने विचार से मैं किसी को ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं अ.र उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमे नहीं है उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं ? बोलने मे अतिशयोक्ति करता हूं ? किये हुये दोष जिसको बता देने चाहिये उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब मे बात को उड़ा देता हूं ? जो कह । चाहिए उसे छिपाता हूं ? इनमें से कुछ भी करते है तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरेक को रोज अपने आप स हिसाब लेकर अपन आप को सुधारना चाहिये (ध० नी० पृ० २३३—२.४)।"

ऐसा करने से सत्य गुण की प्राप्ति होगी। दार्शनिकों के लिये कदाचित् सत्य की सबसे बड़ी आवश्यकता ह क्योंकि वे सत्य के ही अनुसंधान म अपन जीवन को अपण करते है। उनके ऐसा करने से नि.सन्देह सत्य की ओर उनकी दृष्टि पैनी होगी।

अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोरी तीन प्रकार की होती है—बाह्य या शारीरिक, मानसिक और वैचारिक या बौद्धिक। बाह्य चोरी दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना इतना तो है ही। 'पर मनुष्य अपनी मानी जाने वाली चीज की भी चोरी करता है जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाए बिना, उससे छिपाने की नियत रखकर गुपचुप कोई चीज खाले। ... . लावारिस समझ कर कोई चीज लेने मे भी चोरी है। राह मे पड़ी चीज के मालिक हम नही, वल्कि उस प्रदेश का राज या वहाँ की सरकार है।... . एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही ले, तो वह भी चोरी है। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिये (ध० नी० पृ० १३७—१३८)।"

शारीरिक चोरी से भी ज्यादा आत्मा को नीचे गिराने वाली चोरी मानसिक है। "मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना या उस पर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है (वही पृ० १३९)।"

"अमुक उत्तम विचार हमें नही सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमे ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी है। ससार के इतिहास मे ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की है और आज कर रहे हैं (वही पृ० १४०)।"

अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएँ कम करता जायगा। उसको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

"यज्ञ अर्थात् उपासना, बलिदान, सेवा या लोकोपकार न करके भोजन करने वाला व्यक्ति चोर है (द्र० म० दे० पृ० १७६-१७८)।"

गीता के निम्नलिखित श्लोक को गान्धी बिल्कुल ठीक समझते थे और पालन करते थे—

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता. ।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः । गीता ३ । १२

अर्थात्

भूतमात्र की सेवा द्वारा संतुष्ट हुए देवता अर्थात् ईश्वर की सृष्टि तुम्हें इच्छित भोग देगी। उसका बदला दिये बिना, उसका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।

ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी गान्धी को अत्यन्त प्रिय था। उसमे वे सम्पूर्ण हिन्दू धर्म का, सभी अन्य धर्मों का, अपने विचारों का सार पाते थे। यह यों है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध. कस्यस्विद्धनम्।

अर्थात्

जगत् मे जो कुछ जीवन है, वह ईश्वर का बसाया हुआ है। इसलिए उसके नाम से त्याग करके, तू यथाप्राप्त भोगता जा। किसी के धन के प्रति लालच न कर।

स्पष्ट है कि इसके विपरीत कर्म करने वाला व्यक्ति चोर है। अत: अस्तेन को ईश्वरार्पण करके ही भोजनादि भोग करना चाहिए और लोभ नही करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य और अस्वाद

ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय-विकार का निरोध मात्र नहीं है। विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचय है। फिर यह तो उसकी प्रतिषेधक व्याख्या हुई। उसकी विधायक व्याख्या यह है कि यह ब्रह्मचर्य है

अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की—शोध में चर्या, अर्थात् तत्संबधी आचार है (द्र० ध० नी० पृ० १२६- ३०)।

अस्वाद का अर्थ है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद का निकट सबन्ध है। "मेरे अनुभव के अनुसार इस (अस्वाद) व्रत का पालन करने मे समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-सयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतों मे पृथक् स्थान नही दिया जाता। स्वाद को बडे-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला। पर यह केवल मेरा अनुमान मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक् स्थान दिया है (वही पृ० १३१)।"

अस्वाद व्रत के पालन के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है—

१ कभी भी किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भग है।

२. मिताहारी बनना, सदा थोड़ी भूख बाकी रहते ही चौके पर से उठ जाना।

३. अधिक मिर्च-मसाले वाली और अधिक घी-तेल में तली-पकी साग-भाजियों से परहेज करना। जब दूध काफी मिलता हो तो अलग से घी-तेल खाने की जरूरत बिलकुल नही होती।

४. तन-मन से उपवास रखना (द्र० अ० रा० पृ० १०५)

५. अस्वाद वृत्ति से बनने वाली शामिल रसोई बहुत सहायक है। वहाँ भोजन करने वाला अनायास अस्वाद व्रत का पालन करता है।

६ आदर्श स्थिति मे खाद्यों का अग्नि से पकाने की आवश्यकता नहीं होती। सूर्यरूपी महाग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्ही मे से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्य को केवल फलाहारी होना चाहिए (द्र० ध० नी० पृ० १३१-१३६)।

७. विषय को शान्त करने के लिए उपवासादि आवश्यक हैं ? "परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहने वाला रस तो ईश्वर की झाँकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कार का रस जिसे लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है" (गी० मा० पृ० १३१-१३२)।

यह भाव गान्धी को गीता के निम्नांकित शब्दों से मिला था। यह उनका प्रिय श्लोक था।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसो ऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। गीता २।५६

अर्थात्

देहधारी निराहारी रहता है तो उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं, परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से ही निवृत्त होता है।

अस्वाद व्रत ब्रह्मचर्य व्रत की पहली सीढ़ी है। रसनेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त कर लेने से ब्रह्मचर्य का पालन सरल हो जाता है।

दूसरी सीढ़ी जल्दी उठने और जल्दी सोने के नियम का पालन करना है।

तीसरी सीढ़ी सत्संगति है। अच्छी पुस्तकों का पढ़ना, गन्दे साहित्य से परहेज करना, अच्छे आचरण वाले लोगों से मिलना-जुलना और दुष्ट लोगों का संग छोड़ना है।

चौथी और अन्तिम सीढ़ी रामनाम लेना, ईश्वर की प्रार्थना करना है। जब तक ईश्वर में श्रद्धाभक्ति न हो तो तब तक ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है। ईश्वर से साधक को बार-बार प्रार्थना करनी चाहिये कि वह उसे ब्रह्मचर्य में सफलता प्रदान करे। इस प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है।

जिसकी कुल प्रवृत्तियाँ सत्य के दर्शन के लिये हैं, वह सन्तानोत्पत्ति के काम में या घर—गिरस्थी चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता

है ? भोग-विलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है। सर्वव्यापी प्रेम करने वाले का पहले ही से सृष्टि-रूपी कुटुम्ब मौजूद है। उसे अपना कुटुम्ब क्या बनाना पड़ेगा ? वह अपने को दो-चार प्राणियों के प्रेम तक ही क्यों सीमित रखेगा ? वह अपने को स्त्री-प्रेम, पुत्र-प्रेम तक ही क्यों सीमित रखेगा ? इस प्रकार विवाह का ब्रह्मचर्य से मेल नहीं बैठता। सच्चा ब्रह्मचर्य नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ही है। जो आजीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक मनसा वाचा कर्मणा ब्रह्मचारी रहे वही नैष्ठिक ब्रह्मचारी है।

अब प्रश्न उठता है कि फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी ? इसका रास्ता गान्धी ने यों निकाला था—"विवाहित का अविवाहित की भाँति हो जाना (ध० नी० पृ० १२७)।" विवाहित स्त्री-पुरुष अपने को भाई-बहिन समझें। ब्रह्मचर्य सच्ची मातृभावना है। सारे संसार को अपनी माँ समझना ब्रह्मचर्य है। दम्पति का सम्बन्ध यदि भाई-बहिन का-सा हो जाय तो निःसन्देह वे ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।

फिर प्रश्न उठता है कि यदि समाज के समस्त नर-नारी ब्रह्मचारी हो जायेंगे तो समाज का पतन हो जायगा, सन्तानोपत्ति का कार्य रुक जायगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गांधी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन है। सभी लोग इसका थोड़ा भी पालन नहीं कर सकते है। अन्य आदर्शों की भाँति ब्रह्मचर्य भी सदा दुष्प्राप्य है। अतः यदि लोग विवाह कर लें और केवल सन्तानोत्पत्ति के ही लिए, भोग के लिए नहीं—ऋतुकाल मे अपनी स्त्री के साथ मैथुन-क्रिया करें और आजीवन एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत रखें तथा सन्तानोत्पत्ति भी जितनी उनका आर्थिक स्थिति हो उसके अनुसार संतानों के पालन करने का विचार करके करें तो ऐसे दम्पति भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। नीति-भ्रष्ट अविवाहितों से विवाहित अच्छे हैं। विवाहितों में भी एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत वाले दम्पति अच्छे हैं। उनमें भी

केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ऋतुकाल मे मैथुन करने वाले दम्पति अच्छे हैं और इन दम्पत्तियों में भी संतति-पालन की अपनी क्षमता के अनुसार इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति करने वाले दम्पति अच्छे हैं। उनमें भी वे दम्पति अच्छे हैं जो विवाहित रहकर भी सदा अविवाहित रहते हैं।

गान्धी सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों के प्रयोग करने के विरोधी थे। वे इसको नीति का नाश समझते थे। लोगों को अपने मन पर नियन्त्रण रखकर स्वेच्छा से सन्तति-निग्रह करना चाहिए।

अपरिग्रह या असंग्रह

"अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए। वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना (ध० नी० पृ० १४१)।"

अपरिग्रह का बड़ा गहरा अर्थ है। "आदर्श, आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है।" यहाँ तक कि वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है।... . ...केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया है और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती (वही पृ० १४२-१४३)।"

अतः स्पष्ट है कि जब तक देह है तब तक आदर्श या आत्यन्तिक अपरिग्रह नही हो सकता। फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि हमें अपरिग्रह का पालन न करना चाहिए। अपरिग्रह का पालन न करने से लोगों की इच्छायें दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती हैं, समाज में गरीबी फैलती है और आर्थिक विषमता उत्पन्न होती है। इन सब को दूर

करने के लिए हमें उतनी ही वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए जितनी कि हमारे उपयोग के लिए आवश्यक हैं। हमे अपनी इच्छाओं को भी घटाते रहना चाहिए। इच्छाओं के बढ़ाने से सुख नही मिल सकता।

वस्तुओं की भाँति विचार का भी अपरिग्रह होना चाहिए। "अपने दिमाग मे निरर्थक ज्ञान भर लेने वाला मनुष्य परिग्रही है (वही पृ० १४४)।" जो विचार हमें सत्य और अहिसा से विमुख करते हैं, वे परिग्रह के अन्दर आते हैं।

अपरिग्रह को कार्य रूप में लाने के लिए गान्धी ने दो सिद्धान्तों का जन्म दिया—इच्छापूर्वक दैन्यपूर्ण जीवन और ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त।

अपरिग्रही को इच्छापूर्वक दीन बनना चाहिए। उसे सादगी से रहना चाहिए। अपनी इच्छाओ को, अपनी उपयोग-सामग्री को घटाते रहना चाहिए। इस सिद्धान्त को लेकर बहुत से लोगों ने विशेषत: साम्यवादियों ने, एम० एन० राय ने, कहा कि गान्धी का दर्शन निर्धनता का दर्शन है। वह गरीबी और सादगी सिखाता है। पर यह आलोचना गान्धी-दर्शन को ठीक न समझने के कारण है। गान्धी-दर्शन सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्व भर की गरीबी नहीं सिखाता। वह व्यक्ति की भी भोगेच्छा की ही न्यूनता सिखाता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त केवल इसलिए है कि समाज के सभी लोग समान रूप से समृद्ध, धनी या सुखी रहें। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए, शरीर, बुद्धि और आत्मा के विकास के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उसका वह यथोचित मात्रा में उपयोग कर सकता है, ऐसा गान्धी कहते हैं। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि "उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में गरीबी को बहुत ऊँचा उठाया पर भारत मे किसी दूसरे व्यक्ति ने अपने राष्ट्र की, समाज की भौतिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए उनसे अधिक प्रयत्न नहीं किया (वि० भा० पृ० ११)।"

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुसार, गान्धी का कहना था, कि धनी लोग अपने धन का जितना उनके लिए आवश्यक हो, उतना उपभोग करें और शेष धन को अपने अन्दर रखा हुआ समाज का न्यास समझें। वे उस धन के ट्रस्टी या न्यायी हैं, उसके स्वामी नहीं। उन्हें उस धन को लोकोपकार मे, राष्ट्रनिर्माण में, सामाजिक कार्यो में व्यय करना चाहिए। अपनी इच्छा से उस धन को उन्हे इस प्रकार सार्वजनिक कार्यो में खर्च करना चाहिए। पूँजीपतियों से गान्धी की यही दरख्वास्त थी। इसी सिद्धान्त द्वारा वे भारत की आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे।

इस सिद्धान्त की भी बड़ी खिल्ली उड़ाई गई। लोगों ने सोचा कि यह असंभव बात है। पर इसी सिद्धान्त से निकले भूदान, सम्पत्तिदान, आन्दोलन में जनता तथा पूँजीपतियों ने जिस उत्साह और उदारता से काम किया है, यदि उसकी दिनानुदिन प्रगति होती रही, तो यह सत्य सिद्ध हो जायगा कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त मूलतः सही है। गान्धी ने स्वय स्वीकार किया है कि उनके सिद्धान्तों की सफलता भविष्य सिद्ध करेगा।

किस व्यक्ति के लिए कितनी वस्तुओं की आवश्यकता है? वह कितना उपभोग करे और कितना न करे? इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय मे ढूढ़ना चाहिए। वही बतला सकता है कि उसकी कितनी आवश्यकताएँ व्यर्थ की हैं। दूसरा नहीं बतला सकता। हाँ, उस व्यक्ति को ऐसा जानने के लिए कुछ संयम की आवश्यकता होगी। उसे प्रश्न करना पड़ेगा कि क्या मैं जैसा खा रहा हूं, पहिन रहा हूं, वैसा मेरा पड़ोसी या देशवासी भी कर रहा है? क्या मेरे-जैसा उसका भी मकान है? इन प्रश्नों पर विचार करने से उसे अपरिग्रह का नियम ज्ञात हो जायगा और वह अपनी इच्छाओं को घटाना शुरू कर देगा। धीरे-धीरे उसे सफलता मिलती जायगी और तब वह सर्व साधारण-सा जीवन बिता सकने में समर्थ हो सकेगा।

शरीरश्रम या कायिक श्रम

कायिकश्रम का भी संबन्ध अस्तेय से है। जो व्यक्ति बिना यज्ञ किए, यज्ञ का यहाँ अर्थ गान्धी के अनुसार कायिकश्रम है, खाता है, वह चोर है। यदि कोई कार्य नहीं करता तो उसे जीने का हक नहीं है। जीने का अर्थ है काम करना। यदि शरीर काम नहीं करता तो उसे जीने का हक नही है। यदि शरीर से श्रमपूर्वक उपार्जन नहीं किया जाता, तो उस शरीर को खिलाने का भी अधिकार किसी को नहीं है। अतः चाहे लोग बुद्धिजीवी हों या आत्मजीवी हों, उन्हें शरीरजीवी अवश्य बनना है, उन्हें अपनी बुद्धि और आत्मा से ही अपने शरीर की खूराक नही पैदा करनी है। वे अपनी बुद्धि तथा आत्मा की खूराक पैदा करें, शरीर की खूराक से अधिक वे बुद्धि तथा आत्मा की खूराक पैदा करें, पर जब तक उनके शरीर है, उन्हें शरीर की भी खूराक पैदा करनी चाहिए। अन्यथा उनको अपने शरीर को खिलाने का हक नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ कायिक श्रम करना चाहिए। गान्धी ने चरखा कातना सबको आवश्यक बताया है। यदि वे चरखा कातने के स्थान पर दूसरा शारीरिक काम करना चाहते हैं तो कर सकते हैं। चरखा तो कायिक श्रम का प्रतीक मात्र है।

कायिक श्रम सबके लिए अनिवार्य हो जाने से आत्मजीवी, बुद्धिजीवी और शरीरजीवी का अन्तर नहीं रह जाता। इससे समता आती है, छुआछूत दूर होती है और विश्वबन्धुत्व बढ़ता है।

अभय

अभय का अर्थ है बाहरी भय मात्र से मुक्ति। बाहरी भय क्या है? "मौत का भय, धन-दौलत लुट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार विषयक भय, रोग-भय, शस्त्र-प्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी के बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई

जा सकती है (ध० नी० पृ० १४६)।" इन सभी भयों को जीतने से ही अभय की प्राप्ति होती है।

भीतरी भयों से मुक्ति नहीं पानी है। "भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण हैं। देह-विषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है (वही पृ० १४७-१४८)।"

यहाँ पर कुछ लोगों को विरोध दीख पडेगा। एक ओर भीतरी भयों अर्थात् काम-क्रोधादि के भयों से मुक्ति न पाने की बात है और दूसरी ओर काम-क्रोधादि को जीतने की बात है। क्या इन बातों में विरोध नहीं है? काम-क्रोधादि को हमे जीतना है पर उनके भय को बनाये रखना है। हम जितना अधिक काम-क्रोधादि से डरेंगे उतना ही अधिक हम उन्हें जीत सकेंगे और अभय प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुतः काम-क्रोधादि से डरना डर नहीं, अभय की निशानी है। अत. दोनों में विरोध नहीं है

अभय का अर्थ है साहस। जिसे आत्मबल है वही साहसी या शूर है। तलवार लटकाने से कोई बहादुर नही हो जाता। तलवार तो भीरुता की निशानी है। सच्ची वीरता भीतरी होती है, बाहरी नहीं।

अभय की आदर्श-अवस्था देहाधारियों के लिए अप्राप्य है। "भयमात्र से तो मुक्ति वही पा सकता है जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया हो। अभय मोहरहित स्थिति की पराकाष्ठा है" (वही पृ० १४७)। पर निश्चय करने से, सतत प्रयत्न करने से और आत्मा पर श्रद्धा बढाने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है।

अहिंसा को लोग प्रायः कायरों का अस्त्र समझ लिया करते हैं। इस प्रसंग में उन्हें अभय को स्मरण रखना चाहिऐ क्योंकि यह आत्मबली या सत्याग्रही का अनिवार्य गुण है।

सर्वधर्म समभाव

सब धर्मों के प्रति सहिष्णु होना और अपने धर्म का पालन करना—यही गान्धी की महान् से महान् शिक्षा रही है। उनके अनुसार सभी धर्म ईश्वर-दत्त हैं। पर मनुष्य कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं (द्र० वही पृ० १५६)।

सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु होने का मतलब है कि सब धर्म को समान रूप से समझना, न किसी को बड़ा समझना और न किसी को छोटा। किसी धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक धर्म अच्छा है पर उसके अनुयायी बुरे हो सकते हैं। अनुयायियों के जीवन को देखकर किसी धर्म के बारे मे अपनी कोई राय नहीं कायम करनी चाहिये। प्रत्येक धर्म के मान्य धर्म-ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करना चाहिये। उनमें भी ग्राह्य और त्याज्य अंश रहते हैं। ऐसा समझ कर केवल ग्राह्य अंश ही लेना चाहिये और त्याज्य अंश की चर्चा ही छोड़ देनी चाहिये। दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते हुये संकोच न होना चाहिये (द्र० वही पृ० १५८)। गान्धी ने सर्वधर्म समभाव का पालन करने के लिये निम्नलिखित सारगर्भित दृष्टिकोणों की खोज की—

१— प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का ही पालन करना चाहिये। भूलकर भी उसे दूसरे धर्म को नहीं स्वीकार करना चाहिए। अगर उसको अपने धर्म पर शंका हो तो उसे सर्वप्रथम अपने धर्म का शास्त्रीय अध्ययन करना चाहिये। धर्म अनुयायियों से ऊपर रहता है। अनुयायियों के बुरे जीवन से धर्म को बुरा नहीं कहा जा सकता है।

२—"धर्म-पलटा (धर्म-परिवर्तन) मेरे शब्द-कोष में नहीं है" (प्रा० २ पृ० २३७)। धर्म परिवर्तन करना अधार्मिक है। किसी को अपने धर्म को दूसरों पर लादना नहीं चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को कहना चाहिये कि वह अपने धर्म का पालन करे। हिन्दू अच्छा हिन्दू बने,

ईसाई अच्छा ईसाई बने, यहूदी अच्छा यहूदी बने, मुसलमान अच्छा मुसलमान बने......इत्यादि। इस चीज को समझ लेने से धार्मिक द्वेषों और युद्धों का अन्त हो जायगा।

३— सभी धर्म मे अच्छाई और बुराई दोनों हैं। बुराई इसलिये उनमें घुस गई हैं कि वे मनुष्य द्वारा आचार में लाए गए हैं और मनुष्य गलतियों की गठरी है ही, यह निर्विवाद तथ्य है। प्रत्येक धार्मिक भाई को यह मान लेना चाहिये कि उसका धर्म अपूर्ण है। उसमें खरा-बियाँ हैं। इस कारण उसे भूलकर भी दूसरों पर अपना धर्म लादने का प्रयास नहीं करना चाहिये और न अपने धर्म के प्रति दूसरों धर्मों के प्रति से अधिक आदर ही करना चाहिये। ऐसा न करने वाला धर्मान्ध है।

४— सभी धर्मों में धर्मता एक हैं। वह मानवता का धर्म है। विशिष्ट-विशिष्ट धर्म भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा उसी मानव धर्म को व्यक्त करते हैं। मानवजन्य उनकी बुराइयों को दूर करते हुए उनके सार्वभौम तत्त्व को अपनाना चाहिये। यदि विशिष्ट-विशिष्ट धर्मो के मूल तत्त्व एक ही भाषा में मूलतः अभिव्यक्त किये जाते तो वे विशिष्ट न होकर सामान्य ही रहते, तब एक ही धर्म रहता। आज भी यदि विशिष्ट धर्मो की मूल शिक्षाओं का एक भाषा में अनुवाद करके देखा जाय तो सभी विशिष्ट धर्म एक ही प्रतीत होंगे। ऐसा न जानने वाले धर्म को नहीं समझते। इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने के लिए धार्मिकों को चाहिये कि वे सभी विशिष्ट धर्मों की प्रार्थनाओं को किया करें।

५— कोई धर्म हिंसा नहीं सिखाता। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' इकबाल की यह पंक्ति गान्धी को बहुत पसन्द थी। विश्व का धर्म, मानवता का धर्म अहिंसा का धर्म है।

६— सभी धर्मों में एक ईश्वर की ही प्रार्थना होती है। राम-कृष्ण, रहीम-करीम यीशु-मरयम, अहुरा मज्दा, मूसा, सभी ईश्वर के नाम हैं। ईश्वर के विभिन्न नाम उसके गुण हैं।

७—विचार में विरोध हो सकता है पर आचार में विरोध न होना चाहिये। सभी धर्म के पालन करने वालों का आचार एक प्रकार का होना चाहिये अर्थात् उनके जीवन में सत्य तथा अहिंसा की छाप होनी चाहिये।

८— धर्म की शिक्षा बुद्धि या तलवार से नहीं दी जा सकती। उसे हम आचार द्वारा ही औरों को सिखा सकते हैं। अत. जो चाहता है कि उसका धर्म सर्वग्राह्य हो, उसका धर्म सर्व श्रेष्ठ समझा जाय, उसे अपने धर्म को अपने आचरण में उतारना चाहिये, न कि वचन से कुछ कहना चाहिये।

९— सभी धर्मों में किसी-न-किसी रूप से मूर्ति-पूजा मान्य है। शब्दों द्वारा ईश्वर की स्तुति करना, देवालयों में ही ईश्वर का वास मानना, धर्म-ग्रन्थों में ईश्वरीयता मानना आदि उतनी ही बड़ी मूर्ते पूजा है जितनी कि पत्थर और लकड़ी में ईश्वर को मानना। मूर्ति-पूजा मानव मात्र के स्वभाव में है। यह स्वयमेव बुरी नहीं है। पर यह उपासना का आरंभ ही है। इसका अतिक्रमण आवश्यक है। सभी धर्म मूतिपूजा से शुरू करके विराटपूजा और फिर मौनपूजा तक का विधान करते हैं। मूर्तिपूजा तक ही सीमित रहना साधन की कमज़ोरी है।

१०— जो व्यक्ति किसी एक विशिष्ट धर्म को मानता है वह अन्य विशिष्ट धर्म को भी मानता है। गान्धी इसीलिये कहते थे कि चूँकि मैं सच्चा हिन्दू हूं इसीलिये मैं सच्चा ईसाई भी हूं, सच्चा पारसी भी हूं, सच्चा मुसलमान भी हूं, सच्चा यहूदी भी हूं ... ...इत्यादि। जो सच्चा मुसलमान है वह सच्चा हिन्दू है, सच्चा यहूदी है, सच्चा ईसाई है......इत्यादि। इसी प्रकार जो सच्चा ईसाई है वह सच्चा हिन्दू है, सच्चा मुसलमान हैं, सच्चा यहूदी है.........इत्यादि। इस तत्त्व को न समझकर किसी ने कहा कि गान्धी प्रच्छन्न ईसाई हैं, दूसरों ने कहा कि वे मुस्लिम-परस्त हैं और तीसरों ने कहा कि वे महाधूर्त कूटनीतिज्ञ

हैं। वास्तविकता यह है कि वे सच्चे हिन्दू हैं और सर्व धर्म समभाव को मानने के कारण सच्चे ईसाई, मुसलमान, आदि भी हैं।

प्रत्येक धर्म का दार्शनिक अथवा-और रहस्यवादी बोध यह बताता है कि गान्धी ठीक थे और उनके छिन्द्रान्वेषक अन्धे थे।

स्वदेशी

स्वदेशी दार्शनिक मत और नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्रत है। हम पहले इसके नैतिक-धार्मिक पक्ष पर विचार करेंगे। गान्धी ने इसे वर्तमान युग का महाव्रत कहा है।

स्वदेशी की धार्मिक व्याख्या को हम सर्वधर्म समभाव में देख चुके हैं। उसकी नैतिक व्याख्या दो हैं। "स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अन्तिम अर्थ सारे स्थूल संबन्धों से आत्यन्तिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है। क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुये स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।

"यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहने वालों की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना सभव है कि दूर वाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है, पर यह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे (ध० नी० पृ० १७०)।"

दूर की सेवा करने का मोह करने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है। यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। दूर वालों की सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहाँ का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़ कर

चला ही था। यों स्वदेशी का पालन न करके परदेशी के पालन करने में हर तरह से नुकसान है। हाँ, स्वदेशी की पूर्ण सेवा हो गई है तो कुछ परदेशी की भी उसी में सेवा हो गई है। क्योंकि अन्य लोग अपनी स्वदेशी करने की प्रेरणा लेगें। यदि उसके अतिरिक्त परदेशी की सेवा करनी आवश्यक हो तो पूर्ण स्वदेशी करके वह की जा सकती है। पर स्वदेशी की पूर्णता सभव न होने पर यह संभव नहीं है। यह स्वदेशी स्वधर्म का अर्थात् स्वकर्म का पालन है। "स्वधर्म के पालन से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुँच ही नहीं सकती, न पहुँचनी चाहिए। पहुँचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नही है, बल्कि स्वाभिमान है, अत. वह त्याज्य है (वही पृ० १७१)।"

"स्वदेशी मे स्वार्थ नही है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ यानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा (वही पृ० १७२)।" यह स्वदेशी का दार्शनिक अर्थ है। सत्यता निरपेक्ष आत्मनिष्ठा है। स्वदेशी को पूर्णरूप से प्राप्त करना स्व और पर के भेद को प्राप्त करते हुए उस वस्तु को पाना है जो आभासित स्व और पर का आधार है। वही सच्चा स्वार्थ, स्वस्थता या आत्म-निष्ठा है।

स्वदेशी के सामाजिक पहलू पर जोर देते हुए गान्धी ने देशभर में खादी को अपनाने का प्रचार किया। चरखे से सूत कातना और उस सूत से कपड़ा बुनना खादी का काम है। ऐसे बुने हुए अपने देश के कपड़े को ही पहनना स्वदेशी का व्रत है। पर जो लोग खादी पहन-पहन कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हैं। "खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है. इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादी-धारी देखे गए हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहने वाले हैं। स्वदेशी व्रत का पालन करने वाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहाँ-जहाँ पड़ोसी की सेवा की

जा सकती है अर्थात् जहाँ-जहाँ उनके हाथ का तैयार किया हुआ माल होगा वहाँ-वहाँ वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले मंहगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो (वही पृ० १७३) ।"

स्वदेशी की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा दार्शनिक व्याख्या करके गान्धी ने इसे राजनैतिक अस्त्र भी बनाया। उन्होंने देशभर में आन्दोलन किया कि विदेशी कपड़ों को जला देना चाहिये। विदेशी माल का बहिष्कार करना चाहिये। देशवासियों ने गान्धी के इस संदेश का पालन किया और देश के कोने-कोने में विदेशी कपड़ों की होली खेली गई। अंगरेज तथा अन्य यूरोपवासी इस होली को देखकर दंग रह गए।

इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज ने गान्धी पर सन्देह किया। उन्होंने देखा कि स्वदेशी अन्तराष्ट्रीयता के विरुद्ध है। इससे अपने देश का अन्य देशों के साथ संबंध नहीं निभता। यही सन्देह गान्धी के अमर जीवनचरितकार व्यास, रोमैं रोलाँ ने किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि गान्धी के मन में स्वदेशी की स्वस्थ धारणा थी पर उनके शिष्यों और अनुयायियों के हाथ में पड़कर यह विगड़ गई। कालेलकर की पुस्तक-गास्पेल आफ स्वदेशी (स्वदेशी की गीता) की उन्होंने कटु आलोचना की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि "माल और विचार दोनों का बहिष्कार करना पापपूर्ण है (रो० पृ० ११४-११५) ।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु एण्ड्रूज तथा रोमैं रोलाँ की धारणायें निर्मूल हैं। गान्धी तथा कालेलकर ने स्वदेशी की जो व्याख्या की है वह कदापि ऐसी नही कही जा सकती है जिससे कि परदेशी की हानि हो। जो विचार और माल स्वदेश में हो उसको परदेश से लाना खराब है। और जो विचार और माल स्वदेश में नहीं है उसे परदेश से लाना अच्छा है। इसी प्रकार जो माल और विचार परदेश में नहीं है और हमारे यहाँ है, उसका हमें निर्यात करना चाहिए। फिर परदेशी विचार

और माल को लेते समय हमें स्वदेशी विचार और माल की उपेक्षा न करनी चाहिए और न उस माल तथा विचार के स्वदेशीकरण को ही भुला देना चाहिए। गान्धी ने तो बार-बार कहा और उनके अनुयायियों ने उसका पालन किया कि 'स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा "(ध० नी० पृ० १७४)।"

उक्त सन्देह का कारण यह है कि लोगों ने सोचा कि जो अमूल्य और असख्य कपड़े जला दिए गए, यदि वे ही वस्त्रहीनों को दे दिए जाते तो अच्छा था। पर उनका दान स्वदेशी के विपरीत था। जब शराबखोरी बन्द होती है तो शराब बेंचने वाले को बुरा लगता है क्योंकि उसकी आमदनी जाती रहती है। शराबखोरी अगर एक आदमी बन्द करता है तो उसे अपनी शराब को नष्ट कर देना ही ठीक है, न कि किसी को देकर शराबी बनाना। उसका स्वधर्म या स्वभाव शराब पीना नही है। यही बात विदेशी कपड़ों के बारे में भी जानना चाहिए। विदेशियों को इन कपड़ों से आमदनी थी। अपने देश को इनसे कई तरह की हानि थी। अपने देश का कपड़ा इनके सामने चल नहीं पाता था, बिक नहीं पाता था। ये कपड़े बड़े मंहगे थे। इनसे विदेश के लोग धनी हो जाते थे और देश के लोग निर्धन। इनको जला देने से यह सिद्ध करना था कि देश अब जग उठा है, उसने अपने गन्दे स्वभाव को छोड़ दिया है, वह अब विदेशी बाना नहीं पहनेगा, वह स्वदेशी कपड़ा पहनेगा, वह यथासंभव प्रत्येक स्वदेशी वस्तु का प्रयोग करेगा। इस तरह से विदेशियों को पाठ पढ़ाया गया कि वे हमे अपना शिकार न बनायें। शायद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे पर्याप्त जान न आती यदि स्वदेशी का आन्दोलन न किया जाता। आन्दोलन हुआ। सफलता मिली। देश आजाद हुआ। हमारे माल तथा विचार की अन्य देशों में कदर हुई। इन सब परिणामों से सिद्ध है कि हमारा स्वदेशी व्रत ठीक था। कतिपय महापुरुषों की शंकायें निर्मूल थीं। स्वयं गान्धी तथा उनके अनुयायियों ने पश्चिम के देशों

से काफी शिक्षा ली थी। उनके विचारों को पचाया था। पर पचा कर उन विदेशी विचारों का स्वदेशीकरण कर दिया था। यही कारण है कि आज भारत पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का मेल करने वाला समझा जाता है। दार्शनिक-प्रवर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने स्पष्ट कहा है कि "यदि पश्चिम और पूर्व मिलने वाले हैं तो वे भारत में मिलेंगे, यूरोप में नहीं (फिलसाफिकल एण्ड अदर एसेज़ पृ० १८४)।" इस कथन में आज बहुत कुछ सत्यता सभी को प्रतीत होती है।

अस्पृश्यता-निवारण

अस्पृश्यता का रोग ससार भर में फैला है। कुछ लोग अपने ही देशवासियों को अस्पृश्य मानते हैं। हिन्दूधर्म में तो अस्पृश्यता धर्म का अग समझ ली गई है। गान्धी इसके विपरीत थे। वे अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का अंग नहीं मानते थे। वह "उसमे घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, परम कर्त्तव्य है (ध० नी० पृ० १५०)।"

भंगी, चमार आदि को अछूत कहना, उनसे कोई संबन्ध न रखना और उनसे प्रेम न करना मानवता के प्रति अन्याय है। कर्म से कोई छूत और कोई अछूत नहीं हो जाता। कर्म से कोई ऊँच और कोई नीच नहीं हो जाता है। अस्पृश्यता ऊँच-नीच की भावना से उत्पन्न हुई है, वर्णाश्रम धर्म से नहीं। यह भावना अनुचित है, वर्णाश्रम धर्म नहीं अनुचित है। इस भावना को नष्ट कर देने से अस्पृश्यता का निवारण हो जायगा और वर्णाश्रम धर्म भी बना रहेगा। कुछ लोगों का मत है, विशेषतः डा० भीमराव अम्बेडकर का, कि अस्पृश्यता का निवारण तभी हो सकता है जब कि वर्णाश्रम धर्म को नष्ट कर दिया जाय। पर गान्धी इसके विपरीत थे। उन्होंने प्रमाण पेश किया कि वेदोपनिषत्काल मे वर्णाश्रम धर्म था पर अस्पृश्यता नहीं थी। बाद को जब ऊँच-नीच की भावना लोगों के हृदय में बैठ गई तो उसी सस्था से,

वर्णाश्रम धर्म से नहीं, अस्पृश्यता उत्पन्न हो गई। वर्णाश्रम धर्म की संस्था में दोष नहीं है। अतः उसे सुरक्षित रखना चाहिये। वह संस्था धार्मिक न होकर अधिकतर सामाजिक है। उसके बिना समाज चल नहीं सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि अछूतों का उद्धार तब किया जाय जब कि वे गन्दी आदतों को, गन्दे रिवाजों को, दूर कर दें। गान्धी ने बिना किसी शर्त के छुआछूत को नष्ट करने का व्रत लिया। यह दूसरी बात है कि छुआछूत को बिना किसी शर्त के नष्ट करते हुए भी अछूतों के गन्दे रिवाजों और बुरी आदतों को सुधारा जाय, उन्हें शिक्षित किया जाय और स्वच्छ रखने की आदत पैदा की जाय।

अस्पृश्यों को गान्धी 'हरिजन' अर्थात् ईश्वर के भक्त कहते थे। यों तो सभी प्राणी हरिजन हैं पर दीन-दुःखी ईश्वर के विशेष कृपापात्र हैं। अत. हरिजन शब्द अछूतों के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है।

अस्पृश्यता-निवारण के लिये गान्धी ने निम्नलिखित नियमों के पालन पर ज़ोर दिया—

१—हरिजनों के साथ खान-पान तथा शादी-विवाह किया जाय।

२—हरिजनों को सभी मन्दिरों तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में, जहाँ उनका गमन निषिद्ध है, जाने दिया जाय। एतदर्थ कानून बनाने की भी आवश्यकता है क्योंकि कहीं-कहीं बकानूनन हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है। इन कानूनों को रद्द करते हुये नये कानूनों का बनाना जरूरी है।

३—हरिजनों के साथ प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये। उनको अपनी ही जाति का सदस्य समझ कर उनके साथ व्यवहार करना चाहिये।

अपने अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी कार्यों के कारण गान्धी कुछ लोगों के द्वारा सनातनी हिन्दू नहीं माने जाते। वे गान्धी को वर्ण-संकर-कर्त्ता मानते हैं। पर गान्धी खुद अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू मानते हैं। प्रत्येक महापुरुष या महान् दार्शनिक को लोग समझने में भूल करते हैं, यह इतिहाससिद्ध बात है। वैसे ही गान्धी को भी कुछ

लोगों ने गलत समझा। वे अहिन्दू नहीं थे। वे सनातनी हिन्दू कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने वेदोपनिषत्प्रभून ब्राह्मणधर्म का पालन किया है। अस्पृश्यता-निवारण वर्तमान युग के हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसके विपरीत गौतम बुद्ध से लेकर आजतक देश के कितने महापुरुषों ने आवाज उठाई। पर उससे यह जा न सकी क्योंकि उन्होंने इसके मूल को उच्छेद करने का वातावरण ठीक तरह से नहीं बनाया था। गान्धी ने अहिंसा के तरीके से जो वातावरण बनाया है और आज के युग मे समता तथा विश्वबन्धुता का जो संदेश है, उसके कारण अस्पृश्यता कहीं कायम नहीं रह सकती। जिस दिन हिन्दू धर्म से यह निकल जायगी और वह स्वच्छ तथा निष्कलंक हो जायगा, उस दिन गान्धी को लोग अपने धर्म का महाप्रवर्तक मान लेंगे।

सभी व्रतों की जड़ अहिंसा है

हमने ग्यारहों व्रतों की व्याख्या देख ली है। गान्धी उन सबको अहिंसा का ही विकार मानते थे। अब हमें इस सिद्धान्त को समझना है।

१. सत्य अहिंसामय है और अहिंसा सत्यमय है। "दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहले (सत्य) की ओर झुकता है। अन्तिम स्थिति जोड़े से—द्वन्द्व से - अतीत है (ध० नी० पृ० १३७)।" "सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तु का साक्षी है, अहिंसा वस्तु होने पर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नही है। फिर भी अहिंसा ही होना चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका सपूर्ण फल है। सत्य में वह छिपी हुई है; किन्तु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किए बिना मनुष्य भले ही शास्त्र का शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा (गी० मा० पृ० ५४४)।"

सत्य और अहिंसा के इस सम्बन्ध को हम कह सकते हैं कि अहिंसा सत्य का अवश्यंभवितव्य या अवश्यंभावी लक्षण है। इसीलिए गान्धी ने कहा कि "अहिंसा बिना सत्य की खोज असभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओत-प्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें किसे सीधा ? फिर भी अहिसा को साधन तथा सत्य को साध्य मानना चाहिए (ध० नी० पृ० १२४)", क्योंकि अहिंसा-रूपी साधन अपने हाथ की बात है और वह सत्य का बोधक है। लक्षण ही लक्ष्य का बोधक होता है।

इस प्रकार सत्य और अहिंसा में लक्ष्य तथा लक्षण का भेद हुआ अर्थात् कोई वास्तविक भेद नहीं हुआ। दोनों एक हैं।

२. ब्रह्मचर्य और अस्वाद को हम एक साथ ले रहे है। अहिसा का अर्थ है सर्वव्यापी प्रेम। विवाह से लोग जितना प्रेम अपने कुटुम्ब-परिवार के लिए करते हैं उतना अन्य के लिए नही। विषयभोग से, रसभोग से, लोग अपनी शक्ति की, बुद्धि की, हिंसा करते हैं और दूसरों को भी चोट पहुँचाते हैं। वासनामय प्रेम अभिशाप है। सच्चा प्रेम वासना-शून्य होता है। अतः प्रेम-रूपी अहिंसा का पालन तभी हो सकता है जब कि वासनाओं पर अपनी प्रभुता हो अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का पालन हो, इन्द्रियनिग्रह हो। इस कारण ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद अहिंसा के ही सहकारी है। जब तक अहिंसा का बोध न हो सत्य के सच्चे प्रेम की चिकीर्षा न हो, तब तक ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का पालन नहीं हो सकता। अतः अहिसा ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का मूल तथा फल दोनों है।

३. अस्तेय और अपरिग्रह को भी एक साथ लिया जा सकता है। चोरी और परिग्रह से समाज के धन का अपहरण होता हैं जो प्रत्यक्ष है कि हिंसा है। जैसे हमें जितनी आवश्यकता है उतनी ही हवा हम लेते हैं, वैसे ही हमें अपनी आवश्यकता की यथेष्ट मात्रा के अनुसार ही परिग्रह करना चाहिए। अन्यथा हम अहिंसा का खण्डन करेंगे और चोर तथा शोषक कहलायेंगे।

४. अभय अहिंसा का लक्षण बतलाता है। अहिंसा कायरों के लिए नहीं बल्कि वीरों के लिए है। जो वीर हो, अपनी जान को न्यौछावर करने के लिए तुला हो, मृत्यु से डरता न हो, वही अहिंसा का पालन कर सकता है, क्योंकि अहिंसा के पालन में पीटे जाने पर भी अहिंसक को स्वय अपने शत्रु को पीटना नही चाहिए और उस पर क्रोध तक भी न करना चाहिए। जब तक आत्मविश्वास न हो, आत्मबल न हो, तब तक इस प्रकार यातनापूर्ण, दुःख से ओत-प्रोत, अहिंसा के मार्ग का पालन असम्भव है। अत. अभय अहिंसा का ही प्रकार है।

५. सर्वधर्मसमभाव और स्वदेशी भी अहिंसा के अनिवार्य परिणाम हैं। विदेशी वस्तुओं और विचारों के बिना स्वदेशीकरण के अनुसरण करने से स्वदेशी की क्षति होती हैं। विधर्म को अपनाने से स्वधर्म की हिंसा होती है और विधर्म में भी विधर्मी-सा गुण न होने के कारण अपनाने वाले द्वारा क्षति पहुँचती है। सर्व-धर्म समभाव न रखने से अपने धर्मो की प्रशंसा करने से दूसरों के धर्म की निन्दा व्यक्त या अव्यक्त रहती है। इससे दूसरों के भावों को चोट पहुँचती है जो प्रत्यक्षतः हिंसा है। अतः अहिंसक को इन दो व्रतों का पालन अनिवार्य हो जाता है।

६. कायिक श्रम और अस्पृश्यता-निवारण भी अहिंसा के ही अंग हैं। हम कायिक श्रम न करने के कारण कायिक श्रम करने वालों को छोटा या नीच समझते है। इस प्रकार घृणा तथा दुर्भावना फैलाते हैं। अस्पृश्यता तो स्पष्ट ही हिंसा पर आधारित है। इसका निवारण अहिंसा का परिणाम है। किसी के भावों को दुःख पहुँचाना हिंसा है। अस्पृश्यता के कारण घृणा का समाजीकरण हो गया। कायिक श्रम न करने से लोग दूसरों की कमाई का शोषण करते हैं और तिसपर भी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं।

सभी व्रतों की आदर्श स्थिति अप्राप्य है। हमें डर है अस्पृश्यता-निवारण की भी आदर्श स्थिति अप्राप्य है क्योंकि वह भी अन्य व्रतों-

जैसा ही है। कुछ न कुछ अस्पृश्यता सदैव रहेगी। पर उसका दायरा हम काफी कम कर सकते हैं और उसके सभी दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं। व्रतों की आदर्श स्थिति को ही सत्य कहते है। यहाँ तक कि अहिंसा की भी आदर्श स्थिति सत्य है। इस दृष्टि से सभी गुण या व्रत सत्य के विकार या प्रकार हैं। गान्धी के लिए यही सत्य परमेश्वर है।

उपवास, प्रार्थना और भक्ति

एकादश नैतिक गुणों की प्राप्ति बिना उपवास, प्रार्थना तथा ईश्वर मे श्रद्धा के नहीं हो सकती है। सभी गुण सत्य के विकार हैं और सत्य ही परमेश्वर है, इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि ईश्वर की कृपा के बिना सत्य का, उसका, साक्षात्कार नही हो सकता। यदि हम किसी गुण का पालन करना चाहें तो सर्वप्रथम हमें ईश्वर में श्रद्धा रखनी चाहिए और उससे प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें वह गुण प्रदान करे। गान्धी का स्वयं अपना अनुभव था कि ईश्वर साधक की सहायता करता है और साधक ईश्वर में विश्वास रखकर अपनी साधना में सफल होता है।

ईश्वर के बिना प्रार्थना असंभव है। प्रार्थना आत्मा की ध्वनि है।

प्रार्थना को गान्धी ने आत्मा की खूराक कहा है। ईश्वर की चर्चा करना, उसके निमित्त कार्य करना, उसको अर्पण करके सभी कर्म करना, सब प्रार्थना में ही आते हैं। गान्धी ने सभी प्रसिद्ध धर्मों की प्रार्थनाओं को प्रातः तथा सायम् करते थे। साय वे प्रार्थना के बाद प्रवचन देते थे जिसमें देश तथा राष्ट्र की समस्याओं पर वे अपना मत देते थे। उसको भी वे प्रार्थना का ही अग समझते थे।

प्रार्थना करने से हृदय और बुद्धि के सामने सदैव सद्विचार तथा सद्भावनाएँ रहती हैं जिनसे मनुष्य गलतियाँ करने से बच जाता है। प्रार्थना न करने वालों को कभी अपनी गलतियों से बचने का मार्ग ही पहले से नहीं सूझता है और न वह कभी अपनी गलतियों को मानता

ही है। गान्धी ने प्रार्थना के बारे में कहा कि "प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता को कबूलना है (हि० ध० पृ० ११६)"। "प्रार्थना अपने हृदय को टटोलना है। ···अपनी नम्रता को स्मरण करना है ····अपने को शुद्ध करना है (वही पृ० १२५)।"

प्रार्थना का मतलब है कि हम ईश्वर को अपने में देखना चाहते हैं (वही पृ० १२६)। "प्रार्थना इश्वर से कुछ मांगना है या ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना है" (वही पृ० १२३) 'या "ईश्वर से मिलने की आत्मा की अत्यन्त भावुक चीख है" (वही पृ० १२३)।

प्रार्थना हृदय से होनी चाहिए। केवल वचन से प्रार्थना नहीं हो सकती। मौन रह कर प्रार्थना की जा सकती है। मौन प्रार्थना श्रेष्ठ भी मानी जाती है। जहाँ प्रार्थना हो वह स्थान भी शान्त तथा नीरव होना चाहिए। कोलाहलपूर्ण स्थान मे सच्ची प्रार्थना नही हो सकती है। प्रार्थना नियमित रूप से प्रतिदिन होनी चाहिए। सच्चे भक्त तो प्रतिक्षण ही प्रार्थना करते रहते हैं।

यह पूछे जाने पर कि क्या प्रार्थना के समय को जन-सेवा में लगाना ठीक नही है, गान्धी ने कहा कि बड़े से बड़ा कर्मयोगी भी कभी प्रार्थना या उपासना के भक्तिपूर्ण गीतों को नही छोड़ता। आदर्श रूप से यह कहा जा सकता है कि सची जन-सेवा स्वयमेव पूजा है अत. ऐसे भक्तों को प्रार्थना मे समय व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। पर यह आदर्श दुष्प्राप्य है। यथार्थ में भजन-प्रार्थना सेवा के सहकारी हैं और भक्त के हृदय में ईश्वर के स्मारक हैं (द्र० हि० ध० पृ० १२७-१२८)।

फिर पूछे जाने पर कि क्या प्रार्थना द्वारा ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत पड़ती है, गान्धी ने कहा कि नहीं। ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत नहीं है। प्रार्थना अपने को याद दिलाना है। यह बतलाती है कि मैं कौन हूं ? इसका कहना है कि मैं अपने अन्दर बैठे अन्तर्यामी को जानूँ और उससे मदद लेकर अपना कर्म करूँ।

उपवास के विषय में गान्धी ने कहा कि यह प्राचीन संस्था है। यह सभी धर्मों का प्राण है। शरीर को कष्ट देना आध्यात्मिक प्रगति की सर्वत्र सर्वदा शर्त माना गया है। "बिना उपवास के प्रार्थना नहीं हो सकती। पूरा उपवास आत्मा का अक्षरशः पूर्ण बलिदान है। यह सच्ची प्रार्थना है (हि० ध० पृ० १०३)।"

उपवास भीतर से होना चाहिए। बाहर से उपवास करना और भीतर मन में भोग करना उपवास नहीं है। मन से उपवास करने में ईश्वर की भक्ति की आवश्यकता है। जब तक ईश्वर में श्रद्धा-विश्वास न हो, तब तक मन से उपवास रखना कठिन है। मन का ध्यान ईश्वर में लगा देने से वह विषयों से अपने आप हट जाता है। अन्यथा विषय इतने प्रबल हैं कि वे बलात् मन पर चढ़े रहते हैं। "मन का शरीर के साथ निकट का संबन्ध है और विकारी मन विकारी खूराक खोजता है। विकारी मन तरह-तरह के स्वाद और भोग ढूँढ़ता है। और फिर उस खूराक और भोग का असर मन पर होता है। इससे और उतने अंश में खूराक पर अकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

"विकारी मन शरीर और इन्द्रियों पर काबू पाने के बजाय उनके वश होकर काम करता है। इससे भी शरीर को शुद्ध और कम-से-कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की मर्यादा की और मौके-मौके से निराहार की— उपवास की आवश्यकता रहती है। अत. जो यह कहते हैं कि सयमी को खूराक की मर्यादा की या उपवास की जरूरत नहीं है वे उतने ही भ्रम में है, जितने कि खूराक और निराहार को सर्वस्व मान लेने वाले। मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखलाता है कि जिसका मन संयम की ओर जा रहा है उसके लिए खूराक की मर्यादा और निराहार बहुत मददगार है (आ० पृ० ४१७)।"

इतना होने पर भी गान्धी का कहना है कि उपवास का "मुझ पर तो आरोग्य और विषयवासना दोनों की दृष्टि से बहुत अच्छा असर

हुआ। फिर भी मैं जानता हूं कि उपवासादि का ऐसा असर सभी पर होना अनिवार्य नियम नहीं है। विषय-वासना को रोकने मे इन्द्रियदमन की इच्छा से किए हुए उपवास का ही प्रभाव होता है।‥ ‥ उपवास काल में विषय-वासना को रोकने और स्वाद को जीतने की सतत-भावना हो तभी उसका फल होता है। बिना हेतु और बिना मन के किए हुए शारीरिक उपवास का स्वतत्र परिणाम विषय-वासना के दमन के रूप में प्रकट होगा, यह मानना निरा भ्रम है (वही पृ० ४२०)।"

उपवास आत्मशुद्धि का साधन है। यह आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-परीक्षण है। अपने किए हुए दोषों या पापों के प्रायश्चित्त के लिए भी उपवास करना अच्छा है। इसका टिकाऊ प्रभाव पड़ता है।

गान्धी ने इसको अनशन का नाम दिया। वे इसको धार्मिक तथा नैतिक सस्था ही नहीं मानते थे। उन्होंने इसका सामुदायिक प्रयोग किया। सामाजिक तथा राजनैतिक बुराइयों को मिटाने के लिए उन्होंने कई बार अनशन किया। कुछ बार तो आमरण अनशन किया। प्रत्येक बार यथेष्ट लाभ हुआ। समाज और राजनीति में स्वास्थ्य-लाभ हुआ, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्तिगत उपवास से शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ होता है।

"उपवास किसी के शरीर पर असर डालने के लिए नहीं किया जाता। वह तो दिल को छूता है। इसलिये उसका संबन्ध आत्मा से है। इससे उपवास का असर क्षणिक नहीं होता। वह टिकाऊ होता है। उपवास करने वाले में इसके लिए नैतिक योग्यता है या नहीं, यह जुदी बात है (प० अ० पृ० ७५)।"

सार्वजनिक अनशन राजनीति तथा समाज-नीति की अनेक समस्याओं को हल कर देता है। "अहिंसा के पुजारी के पास यही आखिरी हथियार है। जब इन्सानी अक्ल काम नही करती तो अहिंसा का पुजारी उपवास करता है। उपवास से प्रार्थना की तरफ तबियत ज्यादा तेजी से जाती है। यानी उपवास रूहानी चीज है और उसका

रुख ईश्वर की तरफ होता है। इस तरह के काम का असर जनता की जिन्दगी पर यह होता है कि अगर वह उपवास करने वाले को जानती है तो उसकी सोई हुई अन्तरात्मा जाग उठती है (वही पृ० १७५-१७६)।"

पर हर चीज का शास्त्र होता है। उपवास या फाके का भी शास्त्र है। "वगैर तरीके के फाका करने में धर्म नही होता। अगर कोई कहे कि जब तक ईश्वर मेरे सामने नहीं आयगा तब तक मैं भूखों मरूँगा, तो वह मर भले ही जाय, पर ईश्वर उसे नही दिखेगा। सार्वजनिक अनशन का भी एक शास्त्र है, और उसको जानने वाला मैं हूं। यद्यपि मैं भी उसे पूरा नही जानता, पर सबसे ज्यादा मैं हूं उसे जानता हूं (प्रा० १ पृ० १७९)।"

सार्वजनिक अनशन के लिये निम्नलिखित बातों का होना जरूरी है—

१— अनशन की नैतिक तैयारी करनी चाहिये। नैतिक तैयारी का मतलब यह है कि एक ओर उपवास करने वाले को अपने को नीति की दृष्टि से अच्छा बनाना चाहिए और दूसरी ओर उसे अन्य शान्ति-पूर्ण ढंग से अपने कार्य की सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

२— स्वार्थ की पूर्ति के लिए उपवास नहीं करना चाहिये। व्यक्तिगत स्वार्थ को पूरा करने के लिए, किसी से रूपया लेने के लिए, किसी को धमकाने के लिए उपवास नहीं करना चाहिये। ऐसे उपवासों का कोई भी महत्त्व नहीं है और न वे फलप्रद ही सिद्ध होते हैं। उपवास का लक्ष्य आत्मशुद्धि, लोक-कल्याण, नैतिक जागृति तथा सत्य की विजय है। जब तक निःस्वार्थ भाव से उपवास न किया जाय, उसका कोई फल नहीं होता।

३— उपवास का आधार कोई ऐसा सार्वजनिक विषय हो जिसकी पूर्ति नीति संगत हो, पर यह अन्य उपायों से प्राप्त न हो सकी है।

४— उपवास करने वाले के साथ उस विषय पर सच्चा अभ्रान्त, निश्चित तथा प्रचुर लोकमत हो। उपवास करने वालों पर लोगों की श्रद्धा हो। वे उसे जानते हों।

५— उपवास करने वाले हृदय से साहसी होकर पूरी तरह अनशन करें। वे मन से भोग न भोगते हों। मरने के लिए भी वे तत्पर हों।

६— उनमे विश्वास हो कि उनके उपवास का फल निश्चित अच्छा होगा, फिर वह चाहे उनके मरने के बाद ही क्यों न हो।

७— विश्वस्त लोंगों के अभ्रान्त आश्वासन पर कि वे उपवास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तन-मन-धन से कोशिश करेंगे, अनशन तोड़ा जा सकता है, क्योंकि नैतिक चेतना रूपी उसका फल मिल गया।

८— उपवास करने वाला ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखता हो।

९— उपवास प्रायश्चित्त के लिए भी किया जा सकता है।

उपवास धमकी देना नहीं है। यह प्राणों की झूठ मे ही बाजी लगाना नहीं है। यह अनैतिक उपाय नही है। यह विशुद्ध नैतिक उपाय है।

पर अन्य सस्थाओं की भाँति उपवास का भी कभी-कभी अनुचित प्रयोग कर लिया जाता है। साधकों को इससे परहेज करना चाहिये। सच्चा उपवास करते-करते उन्हें सहज ही ज्ञात हो जायगा कि किन परिस्थितियों मे उपवास या सार्वजनिक अनशन करना चाहिये और किनमे नहीं करना चाहिये।

उपवास और प्रार्थना पर ध्यान देते हुए गान्धी ने कहा कि "ईश्वर की प्रार्थना का फल नही माँगा जा सकता और न उसकी प्रार्थना छोड़ी ही जा सकती है। खाने-पीने का उपवास भले ही हम कर ले—समय-समय पर करना भी चाहिये, पर प्रार्थना का फाका नही हो सकता। हमे आखिरी सांस तक राम को भजना चाहिये,......वह धैर्य, वह सबूरी हमे नामस्मरण से ही मिल सकती है (आ० १ पृ० १७६)।" कबीर दास ने कहा भी तो है कि "मन लागो मेरो यार फकीरी मे। .. ..साहब मिलै सबूरी मे"।

गान्धी सिर्फ प्रार्थना और उपवास के लिए ही ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि ईश्वर की कृपा के बिना कोई काम नहीं हो सकता। प्रार्थना, उपवास, एकादश व्रतों का पालन, रचनात्मक कार्यक्रम, वर्णाश्रम-धर्म तथा सत्याग्रह-आन्दोलन सब कार्यों को सम्यक् पालन करने के लिए ईश्वर का अनुग्रह आवश्यक है। उनका मत है कि सच्ची निष्ठा वालों को ईश्वर उबार लेता है और जाने-अनजाने सहायता करता है। इस प्रकार वे भक्ति को साधारण श्रद्धा तथा दैनिक प्रार्थनादि तक ही नही सीमित रखते थे। वे भक्ति के चरम सिद्धान्त 'अनुग्रहवाद' या 'पुष्टिवाद' का भी समर्थन करते थे जिसका सबसे सुन्दर परिपक्व वर्णन बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद में मिलता है।

पर इस अनुग्रहवाद को मानते हुए भी गान्धी वैयक्तिक प्रयत्न पर भी जोर देते हैं। उनकी भक्ति इस कारण मार्जार-किशोर-वाला प्रपत्ति-मार्ग नहीं है, बल्कि वह कपि-किशोर-वाला प्रपत्तिमार्ग है। प्रपत्तिमार्ग के इन दो सम्प्रदायों को रामानुज-दर्शन में काफी प्रतिष्ठा मिली है। पर गान्धी कपि-किशोरवत् प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के पक्ष में हैं जिसमें जीव को शरणापन्न होने पर भी कर्म करना पड़ता है।

इस प्रकार भक्ति, प्रार्थना तथा उपवास का आसरा लेकर ही नैतिक गुणों का संपादन हो सकता है। फिर इन सब के सहारे ही वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम तथा सत्याग्रह-आन्दोलन का निष्काम भाव से पालन हो सकता है। यह सब करते-करते ही लोग सच्चा स्वाराज्य — वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक—प्राप्त कर सकते हैं। यही गान्धी का नव्यमार्ग है जिसे इनके पूर्व किसी ने इस रूप में नही अवतारित किया था।

ज्ञान, कर्म और भक्ति का सहसमुच्चय

गान्धी के नव्य कर्ममार्ग का लक्ष्य आत्मशुद्धि द्वारा ज्ञानोदय करवाना है। बुनियादी ज्ञानमीमांसा का विचार करते हुये हमने देखा

कि संस्कार से ही अन्तरात्मा के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः लगता है कि गान्धी का मार्ग क्रम से कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग था अर्थात् वे कर्म और ज्ञान के क्रम-समुच्चय को मानते थे। पर यह ऊपर से ही दिखाई पड़ता है। भीतर पैठने से मालूम होता है कि उनके मार्ग में ज्ञान और कर्म का युगपत् समुच्चय है। ज्यों-ज्यों कर्म होता है त्यों-त्यों ज्ञान होता है और ज्यों-ज्यों ज्ञान होता है त्यों-त्यों कर्म होता है। उनका परमेश्वर भी निष्क्रिय नही है। वह भी क्रियावान् है। फिर वे कैसे कर्म से सन्यास ले सकते हैं ? विशुद्ध ज्ञान की अवस्था जिसमें कर्म की आवश्यकता नहीं है उनके लिए आदर्श है। पर उस आदर्श तक वे पहुँचे नही हैं। और उनका कहना भी है कि जब तक देह रहती है तब तक उस आदर्श तक पहुँचा भी नही जा सकता है। इससे सिद्ध है कि वे ज्ञान और कर्म के सहसमुच्चय में विश्वास करते थे।

फिर चूँकि उनके कर्ममार्ग की प्रेरणा ईश्वर की श्रद्धा में है और उनका ज्ञान ईश्वर-दर्शन या हरिदर्शन है जिसके लिए निशिदिन प्रति-क्षण सच्ची प्रार्थना हृदय से होती रहनी चाहिए, इसलिए हम कह सकते हैं कि वे भक्ति का भी अपने मार्ग मे समन्वय करते थे। इस प्रकार उनका मार्ग ज्ञान, कर्म और भक्ति का सह-समुच्चय हुआ। इसमें कर्म और भक्ति का तुल्य महत्त्व है। पारिभाषिक पदावली में हम कहें तो कहेंगे कि कर्म और भक्ति का समसमुच्चय है और ज्ञान का स्थान इन दोनों से कम है। पर उसका भी समुच्चय कर्म और भक्ति के साथ ही साथ है। उसका निराकरण हम नही कर सकते हैं।

ज्ञान और भक्ति दोनों कर्मपरक होने से गान्धी प्रायः अपने मार्ग को कर्ममार्ग ही कहते हैं। वे अपने को कर्मयोगी कहते हैं। पर कर्मयोगी शब्द में वे भक्ति और ज्ञान को भी स्थान देते हैं, यह बुनियादी ज्ञानमी-मांसा से और कर्ममार्ग की सफलता के लिए भक्ति की आवश्यकता से नितांत स्पष्ट है।

पर यह जान लेना आवश्यक है कि गान्धी समुच्चयमार्गी होते हुए भी विशुद्ध ज्ञानमार्ग को आदर्श अवस्था मे सभव मानते हैं। उनका कहना है कि हम अपूर्ण मनुष्यों के लिए कर्म, भक्ति और ज्ञान का समुच्चय-मार्ग ही पल्ले पड़ा है, पर यह संभव नही वरन् निश्चित है कि हमे जब अपने आदर्श की प्राप्ति होगी तब तक कर्म और भक्ति छूट जायेंगे और विशुद्ध अद्वैत ज्ञान ही शेष रह जायगा।

उनके निम्नलिखित वचन इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—

१—"एक ऐसी स्थिति होती है, जब आदमी को विचार जाहिर करने की जरूरत नहीं रहती। उसके विचार ही कर्म बन जाते हैं। वह संकल्प से कर्म कर लेता है। ऐसी स्थिति जब आती है तब आदमी अकर्म में कर्म देखता है, यानी अकर्म से कर्म होता है, ऐसे कहा जा सकता है। .. मैं ऐसी स्थिति से दूर हूं। उस तक पहुँचना चाहता हूं। उस ओर मेरा प्रयत्न रहता है (प० अ० पृ० ८६)।"

२— प्रात.स्मरण (शङ्कराचार्य कृत) के तीन श्लोकों के सिद्धान्तों के बारे मे उन्होंने कहा कि "उनके अद्वैत सिद्धान्त को मैं मानता हूं सही, लेकिन,

तद् ब्रह्म निष्कलमह न च भूतसंघ.

कहते संकोच होता है। क्योंकि उतनी साधना अभी पूरी नहीं हुई है (आश्रमभजनावलि, भजनावलि का विकास पृ० ४)।

३— "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म-द्वारा ज्ञानी हुए (गी० मा० प्र० १०८)।"

४—"बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया है कि भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा (वही पृ० १०७)।"

५—'धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नहीं मिलता (वही पृ० ६)"

६—"सत्य के साथ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान अवश्यभावी है। जहाँ सत्य नही वहाँ शुद्ध ज्ञान की संभावना नही है। इससे ईश्वर नाम के साथ

चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नही। इसीलिए हम ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से पहचानते है। इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वाच्छोश्वास होना चाहिए......लेकिन सत्य के संपूर्ण दर्शन तो इस देह से असभव है। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अन्त मे श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है (ध० नी० पृ० ११७-१२१)।"

चन्द्रशंकर शुक्ल ने भी अपनी कृति गान्धीज व्यू आफ लाइफ (गान्धी का जीवन दर्शन) में दिखलाया है कि गान्धी ज्ञान, भक्ति और कर्म के सहसमुच्चयवादी थे। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे की पदावली में उन्होंने यह दिखलाया है कि ये (कर्म, भक्ति और ज्ञान) परस्पर विरोधी (opposite) नही है, वे एक दूसरे के व्यवच्छेदक (Distinct) हैं, अत उनका सहावस्थान तर्कसंगत है (द्र० वही पृ० ६७)।

पर यह सहावस्थान, यह सहसमुच्चय जब तक विशुद्ध ज्ञान नहीं मिलता, जब तक ईश्वर का साक्षात्कार, आत्मज्ञान, या हरिदर्शन नहीं होता, तभी तक है। सच्चे ज्ञान मिलने पर भक्ति और कर्म छूट जाते हैं और विचार-मात्र से, संकल्प-मात्र से कर्म होते हैं। यही अकर्म से कर्म करने की स्थिति है। यह भगवान् के लिए ही संभव है। गान्धी का भी आदर्श भगवान् मे विलीन होने का है। इसको उन्होंने बार-बार कहा है। उसमे विलीन हो जाने पर फिर कर्म उनसे छूट जायेंगे। यही निरपेक्ष ज्ञान की अवस्था है।

इस स्थिति को व्यक्त करने वाले निम्नलिखित उपनिषद् मंत्र को हम उनकी भजनावलि मे सगृहीत पाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात्

ईश्वर के दर्शन पर हृदय की गांठ टूट जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं और सभी प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अद्वैतवाद को महान् देन

स्पष्ट है कि गान्धी के मार्ग में यथार्थ और आदर्श, व्यवहार और परमार्थ दोनों की मान्यता है। उनका यथार्थ भी आदर्श से प्रभावित होकर चलता है। बिना आदर्श के उनका यथार्थ टिक नही सकता है। इस प्रसंग में हमारा मत है कि गान्धी का तरीका उन अद्वैत वेदान्तियों की तरह है जो कर्म-भक्ति का ज्ञान से क्रमसमुच्चय करते हैं। अद्वैतवेदान्त में प्रसिद्ध है कि "व्यवहारे भाट्टनयः" अर्थात् व्यवहार में, यथार्थ में कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त माना जाय, अर्थात् कर्म-मीमांसा के अनुसार जीवन-निर्वाह किया जाय। फिर जैसे कुमारिल ने कहा कि कर्म-मीमांसा के उपरान्त आत्म-ज्ञान के लिए वेदान्त की शरण मे जाना चाहिए, वैसे गान्धी भी कहते है कि कर्म के अनन्तर ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है जो आत्मज्ञान से ही उपलब्ध होती है। गान्धी ने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर अपनी नव्य कर्ममीमांसा स्थापित की। यह उनकी पहली विशेषता है। इस प्रसंग मे उनकी दूसरी विशेषता है कि वे व्यवहार मे भी आदर्श को कभी भुलाते नहीं है और यथाशक्ति अपने व्यवहार को आदर्श के अनुरूप ही बनाते है, जब कि कुमारिल की कर्ममीमासा म प्रायः अद्वैत तत्त्व की अनुकूलता को भुलाकर बिलकुल द्वैतभावना के अनुसार ही जीवन-दर्शन का निर्माण होता है। कुमारिल व्यवहार मे अद्वैतभावना को लाने के लिए नही कहते। गान्धी का कहना है कि यद्यपि व्यवहार मे द्वैत-भावना अनिवार्य है तथापि हम उसको बहुत कुछ अद्वैत-भावना के आधार पर प्रतिष्ठित कर सकत है। कुमारिल के समाज-दर्शन को अद्वैत वेदान्तियों ने मान लिया था। उन्होंने अपने अनुकूल समाज-दर्शन या व्यवहार दर्शन की

प्रतिष्ठापना नहीं की थी। गान्धी ने इस अभाव को पूरा कर दिया। उन्होंने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर हमें अद्वैतवाद-परक समाज—दर्शन दिया। उन्होंने अद्वैततत्त्व के आधार पर समाज-रचना करने का दर्शन दिया और स्वयं उस पर आचरण कर और करवा कर सिद्ध किया कि वह व्यवहार्य है। इस प्रकार 'व्यवहारे भाट्टनय.' इस उक्ति से अधिक समीचीन अर्वाचीन अद्वैत वेदान्त के लिए "व्यवहारे गान्धीनय." यह उक्ति है। सिद्धान्त और व्यवहार की एकरूपता का बड़े-से-बड़े पैमाने पर प्रयोग करना गान्धी की अप्रतिम विशेषता रही है। यही कारण है कि उन्होंने अद्वैत वेदान्त को इतनी महान् देन से विभूषित किया।



अध्याय ५

बुनियादी तत्त्ववाद

कर्ममय तथा ज्ञानमय जागृति

गान्धी का दर्शन जीवन की मीमांसा है। वे जीवन की समस्याओं पर विचार करते हुए, उन पर काम करते हुए, दर्शन की सनातन समस्याओं पर प्रकाश डालते है। उनकी नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जागृति उन्हे विवश करती है कि वे वास्तविकता का, तत्त्व का वैसा ही निरूपण करें जैसा कि उनकी जागृति निर्धारित करती है। इस जागृति को हम कर्मठ-जागृति या कर्ममय जागृति कह सकते हैं। सत् क्या है? असत् क्या है? जीव क्या है? संसार क्या है? मृत्यु क्या है? जन्म क्या है? जीवन क्या है? इन प्रश्नों पर कर्ममय जागृति बहुत प्रकाश डालती है और यथासंभव इनका सही उत्तर देती है। कर्ममय जागृति के साथ ही गान्धी के व्यक्तित्व मे ज्ञानमय जागृति लगी हुई है। कर्ममय जागृति से प्राप्त अनुभवों को ज्ञानमय जागृति सुसम्बद्ध करती है। इसके फलस्वरूप गान्धी अपने दर्शन का सुसंबद्ध रूप हमारे सामने रखते है। इस दर्शन से उनको, उनके साथियों को, उनके अधिकांश देशवासियों को सन्तोष हुआ था और हो रहा है फलतः उन्होंने इसको एक नाम विशेष से, गान्धीवाद से अभिहित किया। इसके तत्त्ववाद को हम बुनियादी तत्त्ववाद कहेंगे क्योंकि यह तत्त्व-

ज्ञान के, तत्त्वदर्शन के, उन बुनियादी सिद्धान्तों का निरूपण करता है जो सनातन दर्शन (Philosophia Perenis) में सदा विद्यमान रहते हैं और जिनका खण्डन किसी भी दर्शन द्वारा करना आचार और विचार के विरुद्ध है।

सत् या सत्य

तत्त्ववाद में तत्त्व का, अस्तित्व का, सत् या सत्ता का विवेचन किया जाता है। गान्धी सत् का निरूपण करते हुए कहते है:—

"सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर सत्य है, यह कहने की अपेक्षा सत्य ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना, नही चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो पता लगेगा कि सत् या सत्य ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करने वाला है।

"सत्य के साथ ज्ञान—शुद्ध-ज्ञान अवश्यंभावी है। जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ शुद्ध ज्ञान की सभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनद भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

"इस सत्य की अराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए (ध० नी० पृ० ११७-११८)।"

यहाँ पर निम्नलिखित पांच सार-गभित बातें कही गई हैं—

१—सत् है। वह एक है।

२—सत् का ही नाम सत्य है।

३—सत्य का ही नाम परमेश्वर है।

४— सत्य-रूपी परमेश्वर सच्चिदानन्द है।

५— हमारा अस्तित्व इसी सत्य-रूपी परमेश्वर या सच्चिदानन्द के लिए है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यहाँ दो प्रकार के अस्तित्व कहे गए-- एक अस्तित्व तो सत् या सत्य या परमेश्वर या सच्चिदानन्द का है जो एक ही है। और दूसरा अस्तित्व 'हमारा अस्तित्व' है। हम बाद को देखेंगे कि इन दो प्रकार के अस्तित्वों का क्या तत्त्ववैज्ञानिक स्तर है और इनमे क्या सबन्ध है? यहाँ हम सिर्फ इतना जानकर संतोष करे कि "सत्य के बिना किसी दूसरी चीज की हस्ती ही नही है" अर्थात् सत्य के बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं है। हमारा अस्तित्व यदि कुछ है तो वह इसी सत्य मे प्रतिष्ठित है। अतः हम पहले सत् या सत्य के ही अस्तित्व का निरूपण करेंगे। वस्तुतः सत्, सत्य और अस्तित्व समानार्थी शब्द हैं। गान्धी इन तीनों से एक ही पदार्थ का बोध करते-कराते हैं।

तत्त्व महत्त्व है

सत् के विषय में जब कभी गान्धी विचार करते हैं तो उसे वे सत्य के रूप में लेते हैं। उनका तात्पर्य है कि सत् सत्य है अर्थात् सत् होना चाहिए। "है" का द्योतक सत् है और 'होना चाहिए' या 'अवश्य होना चाहिए' का द्योतक सत्य है। सत् को सर्वदा सत्य कहने के कारण, सत्य को सत् से अधिक महत्त्व का समझने के कारण गान्धी अपनी तत्त्वमीमांसा को महत्त्वमीमांसा (Axiology) बना देते हैं। महत्त्वविहीन तत्त्वज्ञान उनको इष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में 'होना चाहिए' 'है' से अधिक महत्त्व का है। 'होना चाहिए' पर ही 'होना' या 'है' निर्भर है। महत्त्व पर ही तत्त्व अवलंबित है। या यों कहा जाय कि महत्त्व ही तत्त्व का लक्षण है। महत्त्वमीमांसा इस कारण तत्त्वमीमांसा का बोधक है। सत्य इस प्रकार सत् का आधार

है। सत् शब्द का अर्थ सत्य शब्द के अर्थ से कम है। सत्य अधिक गहरा है। वही महान् से महान् (महतो महीयान्) है। उसका भाव है महत्त्व। हम उसी को तत्त्व समझें। हमे किसी अल्प वस्तु को तत्त्व न समझना चाहिए। अतः महत्त्वमीमांसा तत्त्वमीमांसा का आधार है।

सत् का अर्थचतुष्टय

सत् को इस प्रकार सत्य के अर्थ मे लेने का प्रमाण उन्हें गीता भी देती है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द. पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदित्येवाभिधीयते।
कर्म चैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते॥ १७ ॥ २६-२७

इसका अनुवाद गान्धी यों करते हैं—

"सत्य और कल्याण के अर्थ मे 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। और हे पार्थ! भले कामों मे भी सत्' शब्द व्यवहृत होता है।

"यज्ञ, तप और दान मे दृढ़ता को भी सत् कहते हैं। तत् के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है (गी० मा० पृ० २८८)।"

फिर इसी को वे गीता-बोध में कहते हैं—

"सत् अर्थात् सत्य, कल्याण-रूप। मतलब कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करने वाला है (वही पृ० ६१)।"

यहाँ स्पष्ट है कि सत् शब्द का अर्थ 'सत्य' है और सत्य का अर्थ कल्याण या मूल्य या पुरुषार्थ (Value) है। ईश्वर इसी मूल्यरूपी सत्य की अनिवार्य विशेषता है।

ऊपर 'सत्' शब्द के जो चार अर्थ बतलाए गए हैं वे सभी कल्याण या मूल्य के ही द्योतक हैं।

१—सत् का अर्थ 'सत्य और कल्याण' है। यहाँ सत्य और कल्याण के अर्थ मूल्य या परम अर्थ हैं।

२—सत् का अर्थ 'भला काम' है। इससे जाहिर है कि सत्यरूपी मूल्य कर्मपरायणता है।

३—सत् का अर्थ यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता है। यज्ञ, तप और दान नित्य कर्म हैं। अर्थात् यहाँ सत् का अर्थ हुआ 'नित्य कर्म में दृढ़ता' अर्थात् सत्यरूपी मूल्य को प्राप्त करने के लिए नित्य आग्रह करना।

४—सत् का अर्थ सत्य के निमित्त कर्म है, यह सकल्प व्यक्ति करता है। अर्थात् यहाँ सत् का मतलब व्यक्ति की सकल्पशक्ति या अन्तरात्मा है।

वस्तुतः ये चारों अर्थ मूल्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं। मूल्य व्यक्ति मे संकल्प है, उसमे संकल्प-कृत कर्म है, उस कर्म की दृढ़ता है और उस कर्म का आदर्श भी है। गान्धी मूल्य का इस तरह इन्ही चार अर्थो द्वारा अर्थ करते हैं।

अद्वैतवादी महत्त्वमीमांसा

महत्त्व को तत्त्व का लक्षण मान लेने से, भावित्व या भवितव्यत्व को भूत या सत् का स्वरूप मान लेने से, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महत्त्व-रूपी सत्य का साक्षात् क्रियाशील सम्बन्ध हमारे अस्तित्व से है। वह हमारे लिए प्राप्य है। हम उसके साधक हैं। हम उसकी ओर प्रयत्न करने पर क्रमशः बढ़ सकते हैं। हमारी इसी प्रगति पर सदाचार, नीति या धर्म तथा लोकव्यवहार निर्भर हैं। इसीलिए कहा जाता है कि व्यवहार परमार्थ पर निर्भर है। सत्य परमार्थ है। उसका आग्रह, सत्याग्रह, व्यवहार है। व्यवहार यथार्थ है तो परमार्थ आदर्श है। आदर्श की ओर यदि व्यवहार उन्मुख नहीं रहता तो उसमें गड़बड़ी आती है।

व्यवहार को ही मर्यादित, शासित करने से परमार्थ-रूपी सत्य का नाम ईश्वर पड़ा। चूँकि वह परम तत्त्व भी है, अर्थात् उसका विभाजन नहीं हो सकता है और वह अविकल या निष्कल है, इसलिए हम उसको परम सत्य या परमेश्वर भी कहते हैं।

इस महत्त्वमीमांसामूलक तत्त्ववाद की पुष्टि गान्धी पुनः पुनः करते हैं जब कि वे कहते हैं कि परमेश्वर सत्य, ज्ञान और आनन्द है, वह सच्चिदानन्द है। सत्य, ज्ञान और आनन्द मूल्य हैं। उनका स्वयमेव महत्त्व है। उनसे हमें तृप्ति मिलती है। हम स्वभावत: उनको प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। हमारे सभी व्यवहारों का लक्ष्य उन्हीं को प्राप्त करना है

जब उन्होंने कहा कि सत्य ही अहिंसा है या सत्य साध्य है और अहिंसा साधन है तब उन्होंने इसी सत्य को प्राप्त करने का तरीका बतलाया। सत्य के अभाव में, सत्याग्रह न होने पर, अहिसा का पालन असभव है। यदि अहिंसा को सत्य से पृथक् कर दिया जाय तो वह असंभवित हो जाय। अहिसा सत्य मे प्रतिष्ठित है, सत्य अहिसा में नही। इसीलिए गान्धी ने कहा कि "मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अहिंसा को मैं जितना पहचान सका हूं उससे सत्य को अधिक पहचानता हूँ। मेरा यह अनुभव है कि यदि सत्य को छोड़ दूँ तो अहिंसा की कठिन गुत्थियों को मैं कदापि नही सुलझा सकता" (आ. पृ. ५६८)। इस दृष्टि से अहिंसा या तो सत्य ही है और या तो सत्य का अंग है। अन्य गुण जिनका हम वर्णन कर चुके है इस सत्य या अहिसा के ही परिणाम हैं। इससे सिद्ध होता है कि गुणों की जिनमें नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी गुणों का समावेश है, एक अपनी शृखला है। उनका एक निजी निकाय है जिसका मूर्धन्य सत्य है। सभी गुणों को हम मूल्य कह सकते हैं क्योंकि वे व्यवहार की दृष्टि से मूल्यवान् हैं। इस तरह से भी सिद्ध होता है कि गान्धी का तत्त्ववाद महत्त्वमीमांसा या मूल्य-मीमांसा है। इस महत्त्वमीमांसा को अन्तिम सिद्धान्त या तत्त्व

सत्य या ईश्वर है। अन्य वस्तुएँ यदि हैं तो वे उसी के अंग हैं। इस कारण यह अद्वैतवाद भी है।

इस अद्वैतपरक महत्त्वमीमांसा के तत्त्ववाद पर ही प्रकाश डालने वाले गान्धी के निम्नलिखित शब्द हैं—

"सत्य है, असत्य नही है। हिसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिसा ही होना चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वय सिद्ध है। अहिसा उसका संपूर्ण फल है। सत्य में वह छिपी हुई ही है, किन्तु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किए बिना मनुष्य भले ही शास्त्र का शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिसा ही सिखावेगा।. . . सत्य का साक्षात्कार करने वाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा मे से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा—हिसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभवित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिसा के अर्थ में हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करने वाले हैं। अहिसा सत्य का प्राण है" (गी० मा० पृ० ५४४)।

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि एकमात्र मूल्य सत्य ही है। उसका स्वयमेव महत्त्व या मूल्य है। अहिसा उसका तटस्थ लक्षण है अर्थात् अहिसा उससे भिन्न होकर उसका परिचय देती है। अहिंसा साधनभूत मूल्य है। अन्य मूल्य जैसे ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि अहिसा के ही साधन हैं। इस प्रकार मूल्यों की साधन-साध्य शृंखला है। अन्ततोगत्वा सत्य ही एक और अद्वैत मूल्य है। तत्त्वतः वही है और अन्य सब मूल्य उसके स्वरूप के अन्तर्गत आते हैं। उनकी तात्त्विक सत्ता नहीं है। मनुष्य की, हम लोगों की भी सत्ता तभी हो सकती है जब हममें ये मूल्य हों। अन्यथा हम मनुष्य न होकर पशु हैं। ये मानवोचित धर्म या मूल्य हैं इनके अभाव मे मनुष्य का पशु होना तर्कसगत है। पशुओं का भी तभी अस्तित्व है जब उनमे पाशवोचित मूल्य हों। ये पाशवोचित मूल्य अहिसा तथा उसके निम्न रूप हैं। इसी प्रकार उसी की सत्ता हो

सकती है जिसमें मूल्य हों या कि जो मूल्य हो। जो मूल्य है वह सत्य का ही साधनभूत सत है, अर्थात् उसकी सत्ता सत्य की ही सत्ता है। जिसमें ये मूल्य हों वह भी सत्य ही है जैसा कि सत्य का चतुर्धा अस्तित्व ज्ञात हो चुका है।

सत्य एक है और वह मूल्य या पुरुषार्थ है, यह सिद्ध करने वाले गान्धी के अनेक वचन है। ईश्वर का शाब्दिक अर्थ है ईशन या शासन करने वाला। चूँकि पुरुषार्थ या मूल्य मनुष्य को प्रेरित, नियंत्रित और शासित करता है, अपने प्रभुत्व मे रखता है, मनुष्य उसकी ही दृष्टि से प्रत्येक कर्म करता है, इसलिए सत्य को ही ईश्वर कहा जाता है। जब गान्धी ने 'ईश्वर सत्य है' को 'सत्य ईश्वर है' मे बदल दिया तो वस्तुतः उन्होंने अपनी ज्ञानमीमांसा का चरम परिचय दिया। ईश्वर सत्य है, इसका अर्थ कोई यह लगा सकता है कि 'अमुक द्रव्य है'। वह अमुक द्रव्य का नाम ईश्वर समझता है। पर ईश्वर वस्तुतः द्रव्य नहीं है। सत्य ईश्वर है, इस वाक्य में सत्य का अर्थ मूल्यमात्रता या अर्थता है। अर्थता या मूल्य व्यक्ति और जगत् को नियन्त्रित करता है, शासित करता है—बस 'सत्य ईश्वर है' इस वाक्य का यही अर्थ है। 'ईश्वर सत्य है' इस वाक्य में विशुद्ध तत्त्वज्ञानीय (Ontological) दृष्टि है। 'सत्य ईश्वर है', इस वाक्य में विशुद्ध मूल्य-मीमांसक दृष्टि है। ईश्वर को मूल्य समझने के ही कारण गान्धी कहते हैं कि उसका 'सबसे तादृश्य नाम सत्य है' (प्रा० २ पृ० ३२०)।

यह कहा जा सकता है कि जैसे ईश्वर का सबसे अधिक तादृश्य नाम सत्य है, वैसे सत्य का भी सबसे अधिक तादृश्य नाम ईश्वर है। यदि सत्य या परम मूल्य में ईश्वर अर्थात् शासन करने की क्षमता नहीं है तो वह सत्य या मूल्य ही नहीं हो सकता। मूल्य के लिए यह होना जरूरी है कि उसका आधार व्यक्ति का अन्तस्तल हो और वहाँ रहकर वह व्यक्ति को अपने उस स्वरूप को प्राप्त करने की प्रेरणा दे जो व्यक्ति के व्यक्तित्व से बाहर है। इसी कारण यदि ईश्वर का रूढ़िगत अर्थ न

लेकर हम वह अर्थ लें जो गान्धी करते हैं तो दावे के साथ कह सकते हैं कि सत्य निरीश्वर या अनीश्वर नहीं हो सकता। उसे ईश्वर होना है। जैसे मूल्यमीमांसा की दृष्टि में सत् को सत्य होना है या सत् सत्य है, वैसे ही उसकी दृष्टि में सत्य को ईश्वर भी होना है या सत्य ईश्वर ही है। इसके बिना उसका कुछ मूल्य या महत्त्व ही नहीं है। अतः हम देख सकते हैं कि 'सत् है' इस वाक्य का साक्षात् सबन्ध 'सत् सत्य है'। इस वाक्य से है। और फिर इसी वाक्य का वास्तविक अर्थ हम तब जानते हैं जब कि कहते हैं कि सत्य सत् है। 'सत् सत्य है' इसका तो वैसा ही अर्थ लगाया जा सकता है जो कि 'ईश्वर सत्य है' का है। 'सत्य सत् है' का सरल अर्थ यही हुआ कि सत्य है। फिर इसी सत्य के स्वरूप पर, इसकी मूल्यता पर विचार करने से हमे पता चलता है कि सत्य ईश्वर है।

फिर, वे कहते हैं कि "इस जगत् मे जहाँ ईश्वर कहिए या सत्य कहिए, उसके सिवा दूसरा कुछ भी निश्चित नही है, वहाँ निश्चितता का खयाल करना ही गलत मालूम पड़ता है। यह सम्पूर्ण वस्तु-व्यापार जो अपने आस-पास दिखाई देता और हो रहा है, अनिश्चित है, क्षणिक है, उसमे जो एक परम तत्त्व निश्चित रूप से अंतर्निहित है उसकी झांकी हो जाय, उस पर श्रद्धा हो जाय तभी जीना सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है (आ० पृ० ११६)।" यहाँ यह दिखलाया गया है कि सत्य परम अर्थ है और जगत् उसी को प्राप्त करने का साधन है। व्यक्ति उसी का साधक या शोधक है। साधक होने के कारण व्यक्ति का मूल्य है, साधन होने के कारण जगत् का मूल्य है और सत्य का तो अपना स्वतः मूल्य है ही। मूल्य-प्रसग से पृथक् यदि व्यक्ति, जगत् और सत्य की कल्पना की जाय तो वह कपोल-कल्पना ही होगी, व्यर्थ की बात होगी।

सत्य का वर्णन करते हुए उन्होंने पुनः कहा—"सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसे ज्यों-ज्यों सेया जाय, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते

दिखाई देते हैं। उसका अंत ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी गहराई में पहुँचिए त्यों-त्यों रत्न मिला करते हैं, सेवा के अवसर उपलब्ध होते हैं (आ० पृ० २७४)।"

इस प्रकार सत्य को अनन्त या महत्त्व या बृहद्धर्मा अर्थात् ब्रह्म माना गया।

अब स्पष्ट है कि जैसे प्लेटो के लिए परम तत्त्व 'श्रेय' है वैसे गान्धी के लिए परम तत्त्व 'सत्य' है।

विशुद्ध नीतिशास्त्र की दृष्टि से देखने में दोनों में अन्तर है क्योंकि जहाँ गान्धी 'सत्य' का परम अर्थ बतलाते हैं वहाँ प्लेटो शुभ या श्रेय को। प्लेटो की दृष्टि भलाई पर अधिक है तो गान्धी की भलाई और बुराई से परे महत्त्व पर। इसीलिए गान्धी उस महत्त्व को ही सत्य कहते हैं। पर मूल्यमीमांसा की दृष्टि से दोनों का अभिप्राय एक ही है। दोनों ने अपने शब्द का 'परम अर्थ' ही अर्थ किया।

सत्याद्वैत आत्माद्वैत है

इसी सत्य को गान्धी शंकराचार्य की भाँति आत्मा मानते हैं। उनके साथ वे प्रातः स्मरण करते हैं—

प्रात· स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्व
सच्चित्सुखं परहंसगतिं तुरीयम्।

अर्थात् हृदय में संस्फुरित होने वाले सच्चिदानन्द रूपी परम अर्थ, परा गति, आत्मतत्त्व को मैं प्रातः स्मरण करता हूं। स्पष्ट है कि यहाँ आत्मा का अर्थ परम अर्थ है, न कि कोई द्रव्य या गुण।

वे कर्त्तव्यनिष्ठा, सेवा, ईश्वर का साक्षात्कार और आत्मदर्शन में कोई फर्क नही करते। इससे भी पता चलता है कि वे 'सत्य' को शंकराचार्य के अर्थों में 'आत्मा' मानते थे।

भारतन कुमरप्पा ने ठीक ही कहा कि "उन्होंने अद्वैत के हिन्दू आदर्श को अभ्यास में लाने का प्रयास किया और इसलिए जाति-पांति और धर्म का भेद-भाव न करते हुए सभी मनुष्यों को एक समझा। मनुष्य ही नही, किन्तु सभी जीवित प्राणी भी गाय के प्रतीक से एक समझे जाते हैं और इस कारण दया तथा मैत्री से उनके साथ व्यवहार करना चाहिए (हि० ध० सपादकीय) ।"

अद्वैत-दृष्टि रखते हुए भी गान्धी ने देखा कि आत्मा शब्द का बहुधा प्रयोग करने से लोग उसका दूसरा अर्थ लगा लेते हैं। आत्मा का असली अर्थ परमतत्त्व है और फिर चूंकि परम अर्थ ही परमतत्त्व हो सकता है अतः सत्यरूपी परम अर्थ को आत्मा या परम आत्मा कहना युक्तियुक्त है। पर दुर्भाग्य से लोक मे 'आत्मा' का अनर्थ प्रचलित रहता है। लोग मन, अहंकार, बुद्धि, देह आदि को आत्मा समझ लेते हैं। इन सब भ्रमों को दूर करने के लिए, विषयिनिष्ठ गुत्थी (Egoistic Predicament) से बचने के लिए और मूल्यमीमासक दृष्टि से परम-तत्त्व का विचार करने के कारण गान्धी ने इसका सबसे तादृश्य नाम 'सत्य' समझा। वर्तमान समय में आत्माद्वैत की नासमझी को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसे सत्याद्वैत कहें ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धी ने सत्य को परममूल्य के अर्थ में लिया। सत्यमीमांसा शायद वर्तमान पाश्चात्य एक्सीआलोजी का सच्चा भारतीय अनुवाद है, मूल्यमीमांसा, महत्त्वमीमांसा, तो हम उसे इसलिए कह देते हैं कि हम उसको अन्य दर्शन-सम्प्रदायों से पृथक् रखना चाहते हैं। पर हमारा यह निश्चित विचार है कि सत्यमीमांसा ही, जैसा कि गान्धी कहते हे, एक्सीआलोजी का सही अनुवाद है। हमारा 'सत्य' शब्द ऋग्वेद से लेकर आजतक अनेक अर्थों को लेता गया, पर उन सब अर्थों में इतनी सर्वमान्य बात है कि वे सत्य हैं, परम अर्थ हैं, परम मूल्य हैं, पुरुषार्थ हैं। जैसे अस्तित्व (Being) के

लिये प्रचलित भारतीय शब्द 'सत्' है, वैसे 'होना चाहिए' (The Ought) के लिए यहाँ 'सत्य' शब्द है।

सत्यमीमांसा बुनियादी तत्त्ववाद है

सत्यमीमांसा को हम बुनियादी तत्त्ववाद भी कह सकते हैं क्योंकि यही सभी दर्शन-सम्प्रदायों की, सभी शास्त्रों की, मनुष्य के सभी कर्मों की, बुनियाद है।

सत्य सत् का ही लक्षण होने के कारण सत् के विज्ञान या तत्त्व-ज्ञान की बुनियाद है। सब चीज का खण्डन हो सकता है, पर सत्य का खण्डन नही हो सकता है क्योंकि प्रत्येक दाशनिक सत्यार्थी रहता है। सत्य के नाम और रूप के बारे मे भले ही अनेक विचार हों, पर इस पर सभी दार्शनिकों का मतैक्य है कि सत्य की गवेषणा अवश्य होनी चाहिए।

गान्धी ने इस सत्य का व्यापक से व्यापक अर्थ किया। उनके मत से सत्य सभी शास्त्रों और मनुष्य के सकल व्यापारों का मुख्य विषय है। सभी शास्त्रों की आधारभूत मान्यता सत्य ही है। प्रत्येक शास्त्र सत्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। गान्धी ने सिर्फ सत्य को अपने दर्शन का एकमात्र विषय माना। इससे स्पष्ट है कि वे अपने दर्शन को बुनियादी दर्शन समझते थे। उनके बुनियादी तत्त्ववाद में तात्त्विक सत्ता सिर्फ सत्य या मूल्यानुविद्ध सत् की है। इस कारण यह तत्त्ववाद उन समस्त तत्त्ववादो की बुनियाद है जिनके अनुसार परम तत्व केवल सत् या असत् है क्योंकि, यदि सत् या असत् की खोज सत्य नहीं है तो फिर उनका वाद ही निरर्थक हो जाता है और सत् या असत् की खोज को सत्य मान लेने पर सत्यमीमांसा को समस्त तत्त्व-वादों की बुनियाद आसानी से कहा जा सकता है।



अध्याय ६

ईश्वर

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

गान्धी की कृतियों में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने वाली प्राय: वे सभी युक्तियाँ पायी जाती हैं जिनको अधिकांश महान् दार्शनिकों ने अपने-अपने समय में दिया है। यहाँ कतिपय युक्तियों की व्याख्या की जाती है।

१. *सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति* (Cosmological argument)—सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति निम्नलिखित अनुच्छेदों से स्पष्टत: व्यक्त है—

(क) "इस विश्व में जो कुछ भी है, छोटा या बड़ा, अल्पतम अणुओं को भी लेकर, वह ईश्वर से व्याप्त है। उसे स्रष्टा या ईश कहा जाता है। ईश का मतलब शासक या प्रभु है। जो स्रष्टा है वह स्वभावत: अपने इस अधिकार से ईश या शासक भी है" (हि० ध० पृ० ४२)।

यह गान्धी द्वारा 'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्' इस पद की व्याख्या है। ईशावास्यमिदं सर्वम् ईशावास्योपनिषत् के प्रथम मन्त्र का पहला चरण है। गान्धी इस मन्त्र को हिन्दू धर्म का सर्वस्व-सार— समझते थे। अधिक स्पष्ट करने पर पता चलता है कि यह युक्ति यों है—

यदि जगत् है, यदि जगत् की कोई वस्तु है, यदि अणु हैं, तो ईश्वर अवश्य है, क्योंकि वह उनका कारण या स्रष्टा है। स्रष्टा होने के कारण वह उसका स्वामी या ईश्वर (ईश्वर का अर्थ स्वामी है) है।

(ख) गान्धी प्रात.काल जो प्रार्थनाएँ करते थे, उसमें एक प्रार्थना है—

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय = जगत् के कारणरूप और सत्स्वरूप परमेश्वर ! तुझे नमस्कार।

नमस्ते चिते ते सर्वलोकाश्रयाय = सारे विश्व के आधार हे चैतन्य ! तुझे नमस्कार।

त्वमेकं जगत्पालक स्वप्रकाशम् = तू ही एक जगत् का पालन करने वाला है और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है।

त्वमेकं जगत्कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ = तू ही एक इस सृष्टि को पैदा करने वाला, पालने वाला और इसका संहार करने वाला है।

इनसे स्पष्ट है कि यदि जगत् है तो उसका कर्त्ता, भर्ता और हर्त्ता भी है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ईश्वर को जगत् का कारण तथा आश्रय दोनों माना गया है। वह निमित्तकारण तथा उपादान कारण दोनों है।

(ग) कुरान की 'अल फातिहा' भी गान्धी की प्रातः कालीन प्रार्थना का अंग है। उसका मतलब हिन्दी में बतलाते हुए एक बार गान्धी ने कहा—

"ईश्वर एक है, वह सनातन है, वह निरालम्ब है, वह अज है, अद्वितीय है, वह सारी सृष्टि को पैदा करता है, उसे किसी ने पैदा नहीं किया है (प्रा० १ पृ० ७३)।"

यहाँ यह बतलाया गया है कि संसार की सब वस्तुएँ जन्मशील हैं। यदि एक जन्मशील वस्तु की उत्पत्ति दूसरी जन्मशील वस्तु से मानी जाय, तो फिर दूसरी की तीसरी से मानी जानी चाहिए और इस प्रकार अनवस्थादोष आ जायगा अर्थात् किसी भी वस्तु के कारण की खोज अनन्त तक जायगी पर फिर भी उससे समाधान न होगा। अतः मानना

पड़ता है कि प्रत्येक जन्मशील वस्तु की उत्पत्ति किसी ऐसी वस्तु से होती है जो स्वय अज तथा स्रष्टा है। इस प्रकार केवल ईश्वर ही हो सकता है। अत. ईश्वर है।

चूँकि जिन-जिन वाक्यों मे सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति स्पष्ट है, उन्हें गान्धी बहुमूल्य समझते थे और उनका प्रतिदिन प्रात काल स्मरण करते थे, इससे हम कह सकते हैं कि सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति पर गान्धी कम महत्त्व नही देते थे।

२— कारणिक युक्ति (Causal argument) कारणिक युक्ति सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति ही का अश हो सकती है। कारणिक युक्ति यों है :—यदि मैं हूं या हम है, तो मेरा या हमारा कोई कारण या कर्त्ता भी होना चाहिए। मेरे माँ बाप और जड़ वस्तुये मुझे पैदा नहीं कर सकती हैं क्योंकि वे हम को सुरक्षित भी नहीं रख सकती। यदि वे हमको बना सकतीं तो वे हमको सुरक्षित भी रख सकती। पर ऐसा होता नही है। अतः मुझे या हमे बनाने वाला कोई महाचेतन है अर्थात् ईश्वर है।

गान्धी इस युक्ति को यों व्यक्त करते हैं.—

"यदि हम है, यदि हमारे माँ-बाप हैं और उनके भी माँ-बाप हैं, तो यह विश्वास करना उचित जान पड़ता है कि समस्त सृष्टि का भी पिता है। यदि वह नहीं है, तो हम कहीं के नहीं होते" (हि० ध० पृ० ६३)।

स्पष्ट है कि गान्धी यहाँ अनवस्था दोष को बचाते हुए ईश्वर को परम पिता के रूप मे सिद्ध कर रहे हैं।

३— नैतिक युक्ति के विविध प्रकार हैं। कुछेक के उदाहरण निम्न-लिखित है.—

(क) "भगवान् है, लेकिन हमारी तरह नहीं। उसके प्राणी मरने के लिए ही जीते है। लेकिन भगवान् तो खुद जीवन है। इसलिए भलाई, अपने हरमानी मे, भगवान् का गुण नहीं है। भलाई भगवान् ही है। भगवान् से अलग जिस भलाई की कल्पना की जाती है, वह बेजान

चीज है और वह तभी तक टिकती है जब तक उससे हमें फायदा पहुँचता है। यही बात सारे सदाचारों के बारे मे भी सच है। अगर उन्हे हमारे जीवन मे जिन्दा रहना है तो हमे यह सोचकर अपने मे उन्हे बढ़ाना होगा कि भगवान् से उनका सबन्ध है। वे भगवान के दिए हुए हैं। हम भले बनना चाहते है, क्योकि हम भगवान् को पाना और उसमे मिल जाना चाहते हैं।

"दुनिया के सारे निर्जीव नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं, क्योंकि भगवान् से अलग उनकी कोई हस्ती नहीं है—वे बेजान हैं। भगवान् के प्रसाद के रूप में वे जानदार बनकर आते हैं। वे हमारे जीवन के अंग बन जाते है और हमें ऊँचा उठाते हैं। इसके खिलाफ, भलाई के बिना भगवान् भी बेजान है। हम अपनी झूठी कल्पनाओं मे ही उसे जिदा बनाते हैं— उसमे प्राण फूंकने की कोशिश करते हैं (प० अ० पृ० २८-२६)।"

लोकव्यवहार में कुछ-न कुछ-भलाई अवश्य रहती है। यह भलाई सिद्ध करती है कि ईश्वर जो इस भलाई को पूर्णतया सिद्ध करने वाला प्राणी है, अवश्य है। या यों कहना चाहिए कि भलाई ही ईश्वर है।

(ख) "मैं देखता हूं कि मृत्यु के अभ्यन्तर जीवन रहता है, असत्य के अभ्यन्तर सत्य रहता है, अन्धकार के अभ्यन्तर प्रकाश रहता है। अत मैं निष्कर्ष निकालता हूं कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वह परम शुभ या नि.श्रेयस है।

किन्तु वह ईश्वर ईश्वर नही है जो सिर्फ बुद्धि को सतोष देता है यदि वह ऐसा कभी करता है तो ईश्वर को ईश्वर होने के लिए हृदय पर शासन करना चाहिए और इसे बदलना चाहिए। उसे अपने उपासक के छोटे-से छोटे कामों मे स्वय को व्यक्त करना चाहिए। यह केवल सुनिश्चित सिद्धियों द्वारा ही हो सकता है जो पांच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से कही अधिक वास्तविक है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष झूठे और भ्रमपूर्ण हो सकते है और प्रायः होते भी हैं, फिर चाहे वे कितने सत्य

ही हमें क्यों न प्रतीत हों । इन्द्रियों के बाहर जहाँ सिद्धि है, वह अदूषणीय है । जिन्होंने अपने अन्दर ईश्वर की उपस्थिति महसूस की है, उनके रूपान्तरित चरित तथा शील में ही इसकी सिद्धि होती है, किसी अन्य बाह्य प्रमाण द्वारा नहीं । . . . इस सिद्धि के पहले अटल श्रद्धा होती है । जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में ईश्वर की उपस्थिति का परीक्षण करना चाहेगा, वह ऐसा सजीव श्रद्धा द्वारा कर सकता है । और चूँकि श्रद्धा को बाह्य साक्ष्य द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता, अतः सबसे सुरक्षित मार्ग जगत् की नैतिक सरकार में तथा नैतिक नियम और प्रेम की प्रधानता में विश्वास करना है (हि० ध० ६५) ।

यहाँ वस्तुत. दो तर्क दिए गए हैं । आरम्भ और अन्त में जगत् की नैतिकता से ईश्वर की सिद्धि की गयी है और मध्य में उन नैतिक महापुरुषों के व्यवहार से ईश्वर की सिद्धि की गयी है जिन्हों ने नीति के नियमों को, सत्य तथा प्रेम को, अपने जीवन में उतारने की सफल चेष्टा की है ।

जगत् की नैतिकता ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी, और चैतन्यवादी तथा जड़वादी सभी को मान्य है क्योंकि इसके बिना लोकव्यवहार चल नहीं सकता है । जगत् की नैतिकता या नीतिपरायणता से व्यक्त होता है कि सत्य, प्रेम, आदि नैतिक गुणों की स्वयमेव सत्ता है । और इन्ही की संपूर्ण ईकाई का नाम ईश्वर है । अतः ईश्वर है ।

जब गान्धी कहते हैं कि "मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र है, नैतिकता है; ईश्वर अभयत्व है" (हि० धा० पृ० ६१), तो वे ईश्वर को नैतिकता की मूर्ति के रूप में ही ले रहे हैं ।

फिर जब वे कहते हैं कि "सत्य ही ईश्वर है", "सत्य से भिन्न किसी परमेश्वर के होने का अनुभव मुझे नहीं है" (आ० पृ० ६२२), तो उनका यही अर्थ है ।

(ग) "ईश्वर अन्तरात्मा (Conscience) है", "अन्तरात्मा 'ईश्वर' का छोटा रूपान्तर है" (हि० ध० पृ० ६१) ।

"वह (ईश्वर) हृदयरूपी बन में रहता है और उसकी बंसी है अन्तर्नाद। हमे निर्जन बन में जाने की आवश्यकता नही है। अपने अन्तर मे हमे ईश्वर का मधुर नाद सुनना है (प्रा० १ पृ० १३१)।"

गान्धी अन्तरात्मा की आवाज को ईश्वर की आवाज मानते थे। यह आवाज ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

४—*औपेयिक युक्ति* (Teleological argument) के अनुसार ईश्वर की सत्ता में प्रमाण है जगत् की नियामकता या सप्रयोजनता, क्योंकि इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण कोई महाचैतन्य ही हो सकता है क्योकि उसी के चिन्तन से ही विश्व की नियामकता या सप्रयोजनता सिद्ध की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

गान्धी के निम्नलिखित शब्द इस युक्ति को स्पष्ट करते हैं :—"मैं देखता हूं कि विश्व में अनुक्रम (orderliness) है, प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव जो हैं या जो जीवित हैं, उनको नियन्त्रित करने का एक अटल नियम है। यह अन्ध विधान नहीं है। क्योंकि जीते-जागते जीवों के आचरण को अन्ध विधान नियन्त्रित नहीं कर सकता है और सर जगदीश चन्द्र बोस की अद्भुद् खोजों को धन्यवाद है कि अब यह सिद्ध किया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ भी जवधारी है। वह नियम या विधान जो सकल जीवन को नियन्त्रित करता है नियन्ता, विधाता या ईश्वर है। विधि (विधान) और विधाता दोनों एक ही हैं (हि० ध० पृ० ६४)।"

हमारी भाषा का शब्द 'विधि' विधान और विधाता दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। विधि चतुर चितेरा ब्रह्मा को भी कहा जाता है जो कलाकार की भाँति जगत् की सविचार रचना करता है। मामूली कला-कृतियों में जब काफी चिन्तन तथा सप्रयोजनता रहती है तो इस जगत् की कृति में क्यों अतिशय चैतन्य की आवश्यकता न हो? जगत् तो बहुत बड़ी, बहुत सुन्दर, बहुत नियमित, बहुत उदात्त रचना है—ऐसा कौन अनुभव नहीं करता?

इसी प्रसंग में गान्धी ने कहा—

"सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है (गी० मा० पृ० १४०)।"

५--*तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति* (Ontological argument) तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति गान्धी के निम्नलिखित अनुच्छेदों से स्पष्टतया व्यक्त होती है—

(क) 'सत्य ईश्वर है'। 'सत्य' शब्द का अर्थ ही शब्दतः होता है वह जो है। अर्थात् सत्। इस कारण से और ऐसे ही अन्य कारणों से जिसको मैं दे सकता हूं, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सत्य ईश्वर है, यह परिभाषा (ईश्वर की परिभाषा) मुझे अधिकाधिक संतोष देती है (हि० ध० पृ० ६८)।"

गान्धी सत्य को पुरुषार्थ (Value) मानते हैं और इसी को वे ईश्वर भी कहते हैं। जब वे कहते हैं कि सत्य का शब्दत. ही अर्थ सत् होना है तो उनका अभिप्राय है कि परम पुरुषार्थ या ईश्वर सत् है। 'पुरुषार्थ' का प्रत्यय ही बतलाता है कि पुरुषार्थ सत् है। 'सत्ता' सत्य रूपी इश्वर की ग्राहिका है।

(ख) गान्धी पहले 'ईश्वर सत्य है' ऐसा कहा करते थे। बाद को अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने इसे 'सत्य ईश्वर है' इस परिभाषा मे बदल दिया। इस परिवर्तन का दार्शनिक महत्त्व है। स्वय गान्धी ने कहा—

'ईश्वर का प्रत्याख्यान (निराकरण) हम जानते हैं। सत्य का निराकरण हम नही जानते। मनुष्यों मे जो सबसे अधिक अज्ञानी हैं वे कुछ-न-कुछ सत्य के परिग्रही है। हम सभी सत्य की चिनगारी हैं। इन चिनगारियों का महायोग अवर्णनीय है, वह अद्यावधि-अज्ञात-सत्य है, वही ईश्वर है" (कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासिफी पृ० २२)।

और

"सत्य का अर्थ है सत्ता, उसकी सत्ता जिसे हम जानते हैं और उसकी सत्ता जिसको हम जानते नहीं हैं। सकल सत्ता का महायोग निर-

पेक्ष सत्य है।... सत्य के विचार (प्रत्यय) विभिन्न हो सकते हैं। पर सभी सत्य को स्वीकार करते हैं और सत्य का आदर करते हैं। उसी सत्य को मैं ईश्वर कहता हूं (एन एथीस्ट विद गान्धी पृ० ४५)।"

यहाँ स्पष्ट है कि गान्धी सत्य को अप्रत्याख्येय सिद्ध कर रहे हैं। सभी प्रत्याख्यानों में जो सर्वगत सदा विद्यमान सत्ता रहती है वही सत्य है। सत्ता-मात्र का खण्डन असभव है। अतः सत्य का भी खण्डन असंभव है। फिर सत्य ईश्वर है, इस कारण ईश्वर का भी खण्डन असंभव है।

डा० राजू ने इस प्रसग में ठीक ही कहा कि "कोई शंका नहीं करता कि संसार मे सत्य है। जब कहा जाता है कि वही सत्य ईश्वर है, तो यह वाक्य सारगर्भित हो जाता है और यथार्थत ईश्वर की सत्ता का प्रमाण हो जाता है। यह प्रमाण प्राचीन तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति का नया रूप है (आइडियलिस्टिक थॉट आफ इण्डिया पृ० २९७)।"

६— प्रतिगोचरमय निगमन (Transcendental Deduction) जैसे कांट प्रवर्गो का प्रतिगोचरमय निगमन करता है वैसे गान्धी सत्य या ईश्वर को भी प्रतिगोचरमय निगमन द्वारा सिद्ध करते हैं।

(क) "मैं अस्पष्टतया देखता हूं कि जहाँ मेरे चारों तरफ प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील है, सदा मर्त्य है, वहाँ उस सकल परिवर्तन के अन्तराल में एक जीती-जागती शक्ति है जो बदलती नहीं है, जो सबको एक साथ पकड़े हुए है, जो रचना करती है, नाश करती है और पुनः निर्माण करती है। वह सर्वान्तर निर्मात्री शक्ति या आत्मा ईश्वर है। और चूँकि अन्य कोई वस्तु जिसे मैं इन्द्रियों से देखता हूं सदा रह नहीं सकती या रहेगी नहीं, अतः वही अकेला है" (हि० ध० पृ० ६५)।

यहाँ रचना करना, नाश करना और पुनः निर्माण करना लगता है वाद (thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और सवाद (Synthesis) के रूप में सोचे गए हैं। सब को उत्पन्न करने वाला सदा वर्तमान स्वरूप और एकरूप रहने वाला सर्वान्तर ईश्वर ही है। मार्मिक विचार करने

पर पता चलता है कि गान्धी पिण्ड तथा ब्रह्मांड सब को ईश्वर-केन्द्रीय मानते थे। वे ईश्वर को सर्वत्र अन्तर्यामी मानते थे। इस दृष्टि से शेष सभी युक्तियाँ प्रतिगोचरमय निगमन पर निर्भर प्रतीत होती हैं या इसी के परिणाम स्वरूप लगती हैं। मानवी बुद्धि जो स्वय ईश्वर पर निर्भर है कैसे अपने आधार को आधेय बनाकर सिद्ध कर सकती है? वह केवल यही दिखा सकती है कि उसका आधार, सकल वस्तुओं का आधार ईश्वर है।

(ख) 'सत्य स्वयं सिद्ध है (गी० मा० पृ० १४४)।' "एक ऐसी अलक्षण गुह्य शक्ति है जो सब मे व्याप्त है। मैं इसे अनुभव करता हूं, हालांकि मैं इसे देखता नहीं हूं। यह अदृश्य शक्ति है जो अपने को अनुभूत कराती है और तिस पर भी सभी प्रमाणों को तिरस्कृत करती है क्योंकि मैं जो कुछ भी इन्द्रियों से देखता हूं, वह उन सबसे असमान है। वह इन्द्रियों से अगोचर है (हि० ध० पृ० ६४)।"

स्पष्ट है कि जब गान्धी ऐसा कहते हैं तो वे ईश्वर को गोचर और अगोचर न कहते हुए प्रतिगोचर कह रहे हैं अर्थात् वह जिस पर गोचर आधारित हैं। यहाँ प्रतिगोचरमय निगमन ही है।

(ग) गान्धी-सत्य दर्शन, ईश्वर-दर्शन और आत्म-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार में कोई अन्तर नही करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे सत्य को ईश्वर और फिर ईश्वर को आत्मा रूप में लेते हैं। गान्धी के इनसे सबन्धित कथनों में वस्तुतः ईश्वर का तगोचरमय निगमन मिलता है। किशोर लाल मशरूवाला ने तो स्पष्ट कहा कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी का परम 'अहम्' है (एन एथस्टि विद् गान्धी पृ० १२)।"

७— *मूल्यमीमांसक युक्ति* (Axiological Argument) जैसे कभी-कभी गान्धी सत् को सत्य का आश्रय बतलाते हैं, अर्थात् अस्तित्व को आधार और पुरुषार्थ को उसका आधेय बतलाते हैं, वैसे कभी-कभी वे पुरुषार्थ को आधार तथा सत्ता या अस्तित्व को आधेय बनाते हैं। उदाहरण के लिए उनके ये शब्द लीजिए—

"खुदा है, अल्लाह है, ईश्वर है, राम है, उसे याद करने के लिए ऐसे मौके हैं। वह हमको मदद देता ही है। वह हमें थोड़े पूछने वाला है कि हम उसको पहचानते है या नही। वह हमारे हाथों में नही आता, उसे आँखों से नहीं देख सकते, कानों से नहीं सुन सकते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि इन्द्रियों से बाहर पड़ा है। ऐसी एक वह हस्ती है, दूसरे सब नास्ति हैं। हम सब नास्ति हैं। हम कहें जब हम जिंदा रहते हैं तो नास्ति कैसे हो सकते हैं? आजतक तो मैं ज़िंदा रहा, लेकिन कल के लिए मुझे कोई नहीं बता सकता कि रहूंगा या नहीं। ऐसे ही, कल-कल करके ७८ वर्ष निकाल दिए। और भी शायद दो-चार दिन निकाल दूँ या वर्ष निकाल दूँ। लेकिन हम क्या जानें, मैं कैसे कह सकता हूं कि कोई आदमी अभी जिंदा है तो वह एक मिनट बाद भी जिन्दा रहेगा या नहीं। कोई नहीं कह सकता। इसलिए मैं कहता हूं कि हम तो नास्ति हैं, जिसका कोई ठिकाना नहीं है। हमेशा के लिए नही रह सकते। अस्ति' वह तो एक ही हो सकता है। हस्ती शब्द अस्ति से निकला है। अस्ति के माने हैं 'आदि है, अनादि है, और आयदा रहेगा'। ऐसा हमेशा रहने वाला 'अस्ति' है, जिसने हमको बनाया है और जो हमको बिगाड़ सकता है, यहाँ से उठा सकता है। मेरे नजदीक तो वह बिगाड़ता नही, हमको बनाता ही है। इसलिए अगर हम मानें कि वह नही मिल सकता, और बिगड़े तो वह मूर्खता होगी। लेकिन वह तो है और सब कुछ कर सकता है। वह रहीम है और उसके लिए सब एक हैं। वह किसी का बिगाड़ेगा नही, न किसी को मारेगा, न किसी को गाली देगा। वही उसका कानून है (प्रा० १ पृ० ३२७-३२८)।"

यहाँ यह दिखलाया गया है कि अस्तित्व उसी का हो सकता है जिसे हमेशा रहना चाहिए. जो आदि, मध्य और अवसान में एकरूप रहता हुआ भी सदा के लिए वैसा ही आदर्श बना हुआ है, और जो सब को मदद करता है, या इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते है कि जिसको पाने से दूसरे अस्तित्व पाते हैं और जिसकी ओर दूसरे

बढ़ रहे हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पुरुषार्थ या मूल्य पर अस्तित्व टिका हुआ है। घटना या वस्तु से बिलकुल भिन्न पुरुषार्थ का अस्तित्व है। यहाँ घटना या वस्तु को नास्ति इसीलिए कहा गया है कि अस्तित्व का प्रयोग सिर्फ परम पुरुषार्थ या ईश्वर की सत्ता के अर्थ में ही किया गया है।

मूल्यमीमांसक युक्ति को और स्पष्ट करने वाले गान्धी के निम्न-लिखित शब्द हैं—

"संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गए होते, क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करते हैं। इसी से पुरुषार्थ की गुंजाइश है (ध० नी० पृ० १५७-१५८)।"

चूँकि उन्होंने सेवा द्वारा कार्य-क्षेत्र में ही ईश्वर का दर्शन करने की शिक्षा दी और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के मानने वाले गोरा-जैसे निरीश्वरवादियों को भी नैतिक सहयोग देते हुए कहा कि अगर तुम इन मूल्यों को मानते हो तो वस्तुतः तुम ईश्वर को मानते हो, इस लिए कहा जा सकता है कि इन मूल्यों का बोध ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है।

८—शब्द प्रमाण (Authoritarian Argument)— यह प्रमाण भी गान्धी को मान्य है। वे कहते हैं -

"शास्त्रों का यानी वेद का निचोड़ इतना ही है कि ईश्वर है और वह एक ही है। कुरान और बाइबिल का भी यही निचोड़ है। कोई यह न कहे कि बाइबिल में तीन भगवान् बनाए हैं। वहां भी भगवान् एक ही है" (प्रा० १ पृ० २४)

गान्धी ने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी और पारसी सभी के धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनको उन सब में इस बात की एकवाक्यता मिली कि ईश्वर एक है और प्रत्येक धर्म या धर्म-ग्रन्थ के अनुसार, उसके नाम अनेक हैं।

९—*ऐतिहासिक साक्ष्य*— ईश्वर के प्रमाण के लिए गान्धी इतिहास का भी साक्ष्य देते हैं। उनका कहना है कि "ईश्वर का प्रमाण पैगम्बरों और ऋषियों सन्तों की अटूट परम्परा के अनुभवों में मिलता है। ऐसे लोग प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में हुए हैं। इस प्रमाण को न मानना अपने को न मानना है (हि० ध० पृ० ६५)", क्योंकि हम भी उसी ऐतिहासिक परम्परा की लड़ी हैं और हम यदि उनके अनुभवों को नहीं मानते तो अपने अनुभवों को भी नही मान सकते और दूसरों से अपने अनुभवों को मनवाना तो तब वदतोव्याघात नही तो क्या है?

संत साहित्य से गान्धी को अद्‌भुद् प्रेरणा मिली थी। उन्होंने संतों के अनुभवों को अपने प्रत्यक्ष से अधिक प्रामाणिक माना, क्योंकि उनका निज का भी अनुभव बहुत कुछ वैसा ही था। यह सोचना मूर्खता है कि अनादिकाल से जो असंख्य लोग ईश्वर को अनुभव करते आ रहे हैं, वे सब अज्ञानी थे और सबसे ज्ञानी हम हैं जो कहते हैं कि ईश्वर नहीं है।

१०—*व्यावहारिक युक्ति*— गान्धी व्यावहारिक अधिक थे। वे किसी सिद्धान्त तथा विचार-धारा को उसके फल के अनुसार जाँचते थे। यदि उसका फल ठीक है तब वह ठीक है, अन्यथा वह गलत है।

ईश्वर है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर गान्धी ने अपने व्यवहार से दिया। 'ईश्वर है' ऐसा मानकर वे चले और उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का आधारसूत्र यही था। अपने सिद्धान्त से उनको काफी सफलता मिली। इससे ईश्वर मे उनका दिन-दिन विश्वास बढ़ता गया।

जब उन्होंने देखा कि कुछ अनीश्वरवादियों को भी अपनी विचार-धारा में वास्तविक निष्ठा रहती है और उन्हें अपने कार्य में सफलता मिलती है तो उन्होंने 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाय 'सत्य ईश्वर है' कहना शुरू किया। हम प्रायः शब्दों पर झगड़ा करते हैं। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी 'ईश्वर' शब्द पर ही प्राय. झगड़ा करते हैं। स्वतन्त्रता या सत्यता या प्रेम सभी को मान्य है। अगर इसको ईश्वर कहा

जाय तो फिर कोई अनीश्वरवादी नहीं रह सकता। यहाँ कुछ लोग कह सकते हैं कि ईश्वरवादी स्वतन्त्रता, सत्यता या प्रेम को स्वनिष्ठ या स्वयमेव कुछ मानते हैं जब कि अनीश्वरवादी इसको किसी व्यक्ति का गुण या भाव ही मानते हैं। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि यह विवाद भी निर्मूल है। जो अनीश्वरवादी सत्य या स्वतन्त्रता या प्रेम को व्यक्ति का गुण या भाव मानते हैं, वे इसको यही तक सीमित नहीं रखते। वे इसको सामाजिक भी मानते हैं अर्थात् अन्तर-वैयक्तिक (Inter-individualistic या Intersubjective) मानते हैं। जब इन्हे अन्तर-वैयक्तिक या समष्टिगत मान लिया गया तो इतने पर ही विराम नही हो जाता। वे लोग इनको आधार मानकर इनकी प्राप्ति के लिए यत्न करते और करवाते है। अर्थात् वे इन्हें पुरुषार्थ या मूल्य मानते है। इस प्रकार मानने से वे मूल्य या पुरुषार्थ को वस्तुओं या जीवों के अस्तित्व से अधिक महत्त्व देते हैं। ईश्वरवादी को हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलता है कि वह भी ईश्वर को पुरुषार्थ रूप में मानता है। गान्धी इसके प्रमाण हैं।

अतः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों को जब व्यवहार में सफलता मिलती है तो इसका बहुत कुछ कारण दोनों का पुरुषार्थ के लिए कार्य करना है। इसलिए पुरुषार्थ का अस्तित्व व्यवहार से सिद्ध होता है।

वस्तुतः व्यावहारिक युक्ति मूल्यमीमांसक युक्ति का ही एक प्रकार है।

११—*अस्तित्व दार्शनिक युक्ति*— (Existential-philosophical Argument) पश्चिम में इस समय अस्तित्व-दर्शन (Existential philosophy या Existence Philosophy) ने ईश्वर के प्रत्यय पर नया प्रकाश डालते हुए नए तर्क पेश किया है। यास्पर्स और मार्सेल इसके प्रचारक हैं। गान्धी ने भी इस दृष्टिकोण से ईश्वर के प्रत्यय पर विचार किया है और अस्तित्वनिष्ठ युक्तियाँ दी हैं। इस प्रसंग में कई दृष्टियाँ हैं। कुछेक का निरूपण यहाँ किया जाता है।

(क) "बुद्धि ईश्वर को जानने में शक्तिहीन है। वह बुद्धि की पहुंच के बाहर है। किन्तु मुझे इसको विशद करने की आवश्यकता नही है। श्रद्धा (faith) इस प्रसग में आवश्यक है। मेरा तर्क अनगिनत प्रमेय बना और बिगाड़ सकता है। कोई अनीश्वरवादी मुझे वाद-विवाद में परास्त कर सकता है। किन्तु मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से तीव्रतर है और इस कारण मैं सकल ससार को ललकार कर कह सकता हूं कि ईश्वर है, ईश्वर था और ईश्वर सदा रहेगा" (हि० ध० पृ० ६३)।

और

"जिन वस्तुओं को बुद्धि नही जान सकती है उनमे श्रद्धा करने में मैं विश्वास करता हूं, उदाहरण के लिए, ईश्वर का अस्तित्व है। कोई तर्क मुझे इस श्रद्धा से विचलित नही कर सकता और उस छोटी लड़की की तरह जो सभी तर्कों के खिलाफ 'हम सात हैं" को मान रही थी,[१]

१— "We are Seven" (हम सात हैं), इस शीर्षक की विलियम वड्‌सँवर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है। उसकी कथा यों है – कवि को आठ साल की एक ग्राम-बालिका मिली। उसने उससे पूँछा—"बाले ? तुम कितने भाई-बहिन हो ?' बालिका ने उत्तर दिया "सात"। इस पर कवि ने पूँछा—"वे सब कहाँ हैं ?' उसने कहा— "हम सात हैं। दो कानवे मे रहते हैं। दो समुद्र को गये हैं। दो, एक भाई और एक बहिन, कब्र मे रहते हैं।" कवि बालिका को समझाता है कि यदि दो कब्र मे रहत हैं तो वह पाँच भाई-बहिन हैं, न कि सात। पर मृत्यु से अपरिचित बालिका कहती है कि वह उनकी कब्रों को देखती है और वहाँ उनके साथ खेलती हैं। तात्पर्य यह कि मृत्यु प्रेमियो को पृथक नही करती। यदि प्रेम की दृष्टि-से देखा जाय, तो बालिका सचमुच सात भाई बहिन हैं यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से वह पाँच ही भाई-बहिन हैं। मृत भाई और बहिन के साथ भी उसका प्रेम इतना सजीव है कि वह उन्हें जीवित समझती है।

यद्यपि मैं तर्क में परास्त कर दिया जाऊं तो भी यह दुहराना पसन्द करूंगा कि 'फिर भी ईश्वर है' (वही पृ० ३८)।

और

"बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। जिस ईश्वर को मेरी अल्प बुद्धि विश्लेषण करती है, वह मुझे संतोष नहीं दे सकता। इस कारण मैं उसका विश्लेषण नही करता हूं। मैं सापेक्ष वस्तुओं के पीछे निरपेक्ष सत् तक जाता हूं और मुझे तब मनः शान्ति मिलती है (एन एथीस्ट विद् गान्धी पृ० २८)।"

तथा

"क्या आप मुझे अन्ध विश्वासी समझते हैं। मैं अनीश्वरवादी से ऊर्ध्व हूं (वही पृ० ४५)।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गान्धी स्वाभाविक या नैसर्गिक श्रद्धा से ईश्वर को सिद्ध करते हैं। यह श्रद्धा तर्क-निम्न न होकर तर्कोर्ध्व है। इसकी दार्शनिक व्याख्या सभव है। यह दार्शनिक श्रद्धा है। इससे

जिस विश्वास के साथ बालिका कहती है कि वह सात भाई-बहिन हैं, उसी विश्वास के साथ गान्धी भी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। उनका सिद्धान्त भले ही दूसरो की दृष्टि में अयथार्थ हो, पर उनकी दृष्टि में वह वैसे ही जीवन्त था जैसे कि सातो भाई-बहिनों के प्रति बालिका का प्रेम। वड्सर्वर्थ की कविता की अन्तिम पक्तियाँ इच्छा-शक्ति की विजय बताती हुई बालिका की दृढता का सकेत करती हैं —

But they are dead, those two are dead !
Their spirits are in heaven !"
It was throwing words away: for still !
The little maid would have her will
And said, "Nay, we are seven."

व्यक्ति अपना संबन्ध अनन्त से जोड़ता है। यह अनन्त अलक्षण और अचिन्त्य है। यही संबन्ध सच्चा व्यक्तित्व है और यह स्पष्टतः ईश्वर को सिद्ध करता है क्योंकि उसके अभाव में यह संबन्ध हो नही सकता है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि ईश्वर और व्यक्ति को अलग-अलग मानकर दोनों में संबन्ध देखा गया। नहीं। नैसर्गिक श्रद्धा एक तथ्य है। यह एक सबन्ध है। यह सीमित और असीम को सिद्ध करती है। यही श्रद्धा व्यक्ति का व्यक्तित्व और ईश्वर का ईश्वरत्व सिद्ध करती है। यही बतलाती है कि व्यक्तित्व इस कारण सत् है कि उसमें ईश्वरत्व है या वह ईश्वरत्व पर प्रतिष्ठित है या वह ईश्वरत्व की ओर झुका हुआ है।

इस प्रकार नैसर्गिक श्रद्धा से अचिन्त्य सत्-रूपी ईश्वर को सिद्ध करते समय गान्धी हमें यास्पर्स का स्मरण कराते हैं या और दूसरा उदाहरण दें तो अलबर्ट स्वाइत्ज़र की याद कराते हैं।

यास्पर्स की ही भाँति वे कहते हैं—

"हम पर और सन्देहवादियों पर शासन करने वाली कोई वस्तु है जो बुद्धि से अनन्त गुना ऊँची है। उनका संदेहवाद और दर्शन उन्हें जीवन के सकट क्षणों मे मदद नहीं करता। उन्हें किसी बेहतर चीज़ की, उनसे बाहर किसी चीज़ की, जरूरत पड़ती है जो उन्हें कायम रख सकती है। अगर ऐसी ही कोई मेरे सामने समस्या रखे तो मैं उससे कहूंगा कि तुम ईश्वर या प्रार्थना का मतलब तब तक नहीं जान सकते हो जब तक कि अपने को शून्यवत् न बना लो। तुम्हें इतना नम्र होना है कि कि महसूस करो कि बुद्धि की विशालता और महानता के भी बावजूद तुम इस विश्व में महज एक कण हो। जीवन की वस्तुओं का केवल बौद्धिक प्रत्ययन पर्याप्त नहीं है। आध्यात्मिक प्रत्ययन बुद्धि से परे है और वही संतोष दे सकता है। धनी-मानी लोग भी सकट-क्षणों का अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हालांकि वे धन-दौलत से घिरे रहते हैं और उन चीजों से भी घिरे रहते हैं जो धन-दौलत से

खरीदी जा सकती हैं, लेकिन फिर भी वे अपने जीवन के कतिपय क्षणों में अपने को पूर्णतया निराश और हतोत्साह पाते हैं। ये ही वे क्षण है जिनमे हमे ईश्वर की झांकी मिलती है, हम उसका दर्शन करते हैं जो जीवन मे हमारे हर कदम को चला रहा है। यही प्रार्थना है (हि. ध. पृ. १२१)।"

यहाँ अस्तित्वदार्शनिकों की तरह गान्धी ने सकटापन्न क्षणों की अनुभूति को प्रार्थना अर्थात् ईश्वर को सिद्ध करने वाली कहा है।

(ख) मार्सेल की तरह गान्धी रहस्य (Mystery) की लौकिक व्याख्या करते है। जब वे कहते है कि ईश्वर गुह्य शक्ति है, एक रहस्य है, तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि हम उसको समझ नही सकते या हम उसको पा नही सकते। वे सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर एक गुप्त शक्ति है, जो बुद्धि से छिपी रहती है पर हृदय को खोलने पर वह हृदय मे मिल जाती है।

इस तरह गान्धी की गुह्य शक्ति अलौकिक नही है। फिर, वह बौद्धिक भी नही है। वह यत्न-साध्य है, हृदय द्वारा लभ्य है। इस कारण वह पूर्ण लौकिक है। इसमे कोई रहस्यवाद नहीं है।

प्रथम आरंभिक चितन मे ईश्वर हमें समस्या लगता है, प्रमेय लगता है। द्वितीय चितन मे अर्थात् दुबारा चितन में वह हमें गुह्य (Mystery) लगता है। उसका साक्षात् सबध हमसे लगता है। यह सबध मौलिक लगता है, इसका किसी में अन्तर्भाव असंभव है।

गान्धी ने अपनी इस गुह्य शक्ति का यों वर्णन किया—

'सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सबको उसका सहारा या फायदा नहीं मिलता, या यों कहें कि सब उसका सहारा पा नही सकते।

"बिजली एक बड़ी शक्ति है। मगर सब उससे फायदा नहीं उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम

किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड़ है, बेजान चीज़ है। उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है। जिस चेतनामय बड़ी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही। लेकिन यह चीज़ बिलकुल साफ है कि उस नियम को ढूँढ़ने के लिए बहुत ज्यादा परिश्रम की जरूरत है। उस नियम का नाम है ब्रह्मचर्य (ब्र० २ पृ० ५७-५८)।"

ब्रह्मचर्य से सभी मनुष्य ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं अर्थात् पा सकते हैं—यह गान्धी का अटल सिद्धान्त है। अतः यद्यपि ईश्वर परम गुह्य है, तथापि वह सर्वसुलभ है। गान्धी सदा मानते रहे कि "जो एक के लिए शक्य है, वह सब के लिए शक्य है (आ० प्रस्तावना पृ० ५)।"

(ग) अस्तित्ववादी सार्त्रे की भाँति गान्धी बलिदान में, दुःख में, धीरज मे अपने अस्तित्व को सम्पन्न पाते है और यद्यपि सार्त्रे अनीश्वरवादी है तथापि गान्धी इस प्रक्रिया द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

"वह (ईश्वर) बहुत दीर्घकालीन सहनशीलता है। वह धीर है पर भयंकर भी। वह मौजूदा संसार में और आने वाले ससार में भी सब से अधिक ताड़ना देने वाला है (हि० ध० पृ० ६१)।"

और

"मैं ईश्वर को दीर्घकालीन दुःख तथा धीरता कहता हूं क्योंकि वह संसार में बुराइयों को स्वीकार कर लेता है। मैं जानता हूं कि उसमें बुराई नहीं है। वह इसका प्रणेता है और फिर भी इससे अछूता है" (वही पृ० ६६)।

गान्धी जब कहते हैं कि "ईश्वर स्वयं निश्चय की, व्रत की संपूर्ण मूर्ति है (ध० नी० पृ० १७८)", "जो तीनों कालों मे संपूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है, उसे इस जगत् में कुछ भी करने को नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है" (वही पृ० १३५), तो उनका अभिप्राय यह दिखलाना है कि अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन

करने में हमें जो कष्ट होता है, उससे कहीं अधिक कष्ट उसको हो सकता है जो इन व्रतों को सदा आदर्श रूप में पालता है। पर चूंकि ईश्वर सिर्फ इन व्रतों के आदर्श का पालन करने वाले प्राणी ही का दूसरा नाम है, हम उससे अपने जीवन मे शिक्षा लेते है और व्रतों के पालन मे जो कष्ट होता है उसे सुख मे बदल देते है। आखिर में यह बतलाता है कि व्रतों के पालन में कष्ट नही बल्कि आनन्द है। तथाकथित कष्ट ईश्वर का अस्तित्व है, हमारा भी अस्तित्व है, अतः वह कष्ट नहीं है वह आनन्द है। व्रतों का पालन अस्तित्व है।

स्वेच्छा से गरीबी मे जीवन बिताना, कष्ट झेलना और व्रतों का पालन करना ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इन अवसरों पर ईश्वर की झांकी मिलती है।

"यदि अपने सन्तानों द्वारा ईश्वर प्रमाणों का प्रमेय बन गया होता तो वह ईश्वर न रहता" (हि० ध० प० १०५)। ईश्वर प्रमेय नहीं है। वह सभी प्रमाणों का प्रमाता है।

इसीलिए गान्धी के मत को स्पष्ट करते हुए किशोरलाल मशरूवाला ने कहा कि "ईश्वर के अस्तित्व या नास्तित्व का व्याख्यान करने के पूर्व हमें दो भूलों को बचाना चाहिए। पहली यह कि प्रश्नकर्त्ता अपने समझने के पूर्व ईश्वर को समझने की कोशिश करता है। जब तक कोई अपने अस्तित्व को अच्छी तरह से न समझे, न सिद्ध करे, न जाने, तब तक ईश्वर के प्रति उसकी समस्त ऊहाये व्यर्थ हैं।...... जैसे-जैसे अपने अस्तित्व की, आत्मा के अस्तित्व की समझ बढ़ती है, वैसे-वैसे ईश्वर के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। अतः जो ईश्वर के विषय में स्पष्ट ज्ञान रखना चाहता है उसे सर्वप्रथम अपने अस्तित्व के स्वभाव के विषय मे स्पष्ट ज्ञान रखना चाहिए। . . दूसरी भूल पहली भूल से, आत्मा की नासमझी से, उत्पन्न होती है। दूसरी भूल है ईश्वर को प्रमेय या अप्रमेय समझ लेना (एन एथीस्टि विद गान्धी पृ० १६—२०)।" चूंकि स्वयं आत्मा न प्रमेय है न अप्रमेय, न विषय

है और न अज्ञेय, इस कारण ईश्वर भी ऐसा नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य या ज्ञान स्वरूप है, तो ईश्वर भी ऐसा ही है। ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार आत्मज्ञान रखने वाले ही कर सकते हैं।

१२. *रहस्यवादी युक्तियाँ*— कुछ लोग गान्धी को रहस्यवादी संत मानते हैं। रहस्यवादी मुख्यतः हम उन लोगों को कहते हैं जिन्होंने ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर लिया हो और जो दूसरों को भी ईश्वर का साक्षात् दर्शन करा सकें। यदि दर्शन करा सकने वाला गुण उनमें न हो तो कम से कम ईश्वर का साक्षात् दर्शन करने वाला गुण अवश्य होना चाहिए। उनका इस प्रकार का दर्शन ईश्वर को सिद्ध करता है।

गान्धी ने अपनी आत्मकथा में ऐसे दर्शन को संभव बतलाया है पर यह कबूल किया है कि उन्हें ऐसा दर्शन हुआ नही है। वे सदैव यह मानते रहे कि "ईश्वर को आँखों से प्रत्यक्ष देखने में और उसे बड़ी दूर से सत्य के रूप में जीता-जागता देखने मे बहुत बड़ा अन्तर है (प०-अ० पृ० १३४)।" ईश्वर को प्रत्यक्ष देखने वाले रहस्यवादी कहे जाते है; ईश्वर को सत्य के रूप में दूर से देखने वाले दार्शनिक कहे जाते जाते है। इस प्रकार हम गान्धी को रहस्यवादी नहीं कह सकते। यदि हम उनको कुछ अर्थ में रहस्यवादी कहना चाहे तो बस इसी अर्थ में कह सकते हैं कि वे रहस्यवादी प्रत्यक्ष को संभव मानते हैं, वे रहस्यवाद के साथ साधारण प्रत्यक्ष का विरोध नहीं देखते, वे रहस्यवाद को साधारण प्रत्यक्ष की पूर्णावस्था मानते हैं और अन्त में यह भी कहते हैं कि यदि प्रयत्न किया जाय, साधना की जाय तो रहस्यवादी प्रत्यक्ष मिल सकता है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद केवल संभाव्य रहस्यवाद है, यथार्थ या ठेठ नहीं।

उनकी भजनावलि में रहस्यवादी सन्तों की अनेक अनुभूतियाँ हैं जो ईश्वर को सिद्ध करती हैं। गान्धी उनको अपनी अनुभूति नहीं बताते। वे सिर्फ उनको अपने से अधिक साधकों द्वारा अनुभूत मानते और अपने लिए भी यत्न करने पर साध्य समझते हैं।

ठेठ रहस्यवाद से भिन्न एक प्रकार का रहस्यवाद प्रचलित है जो मानता है कि ईश्वर भक्तों की सहायता करता है, वह रहनुमा और हकीम है। उसका नाम लेने से उसकी प्राप्ति होती है। गान्धी इस प्रचलित रहस्यवाद को मानते हैं। उनका निजी अनुभव है कि ईश्वर उनकी मदद करता है, उनको राह दिखाता है और उनको रोगों से अच्छा करता है। वे मानते हैं कि सच्ची निष्ठा वालों को ईश्वर उबार लेता है। ईश्वर प्रार्थनाओं को सुनता है और उत्तर देता है, कभी-कभी बिना प्रार्थना किए जाने पर भी वह साक्षात् मदद कर देता है। उसके जप के विषय में उनका कहना है कि "बात यह है कि ईश्वर सदा सर्वत्र है, हम उसे केवल जानते नहीं है। उसके नाम का जप हमें अपनी निद्रा-अज्ञान से जगाता है, बिजली की तरह अमोघ काम करता है, और तुरन्त हमारे बीच ईश्वर की अनुपस्थिति को अनुभूत करा देता है (हि० ध० पृ० ६१)।"

स्वय गान्धी के जीवन में ऐसे क्षण हैं जब उन्हें ईश्वर से मदद मिली है। इस मदद से वे ईश्वर को सिद्ध करते है। उनका कहना है कि यह मदद किसी अन्य साधन द्वारा नहीं हो सकती। यह संयोग भी नहीं है। फिर गान्धी अपनी धारणाओं को ईश्वर का सलाप बतलाते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ने उनको बताया है।

क्या ईश्वर के ये प्रमाण विश्वसनीय है? गान्धी इन पर अटूट विश्वास करते हैं।

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ईश्वर को मददगार, रहनुमा और हकीम मानना वस्तुतः रहस्यवादी धारणा नहीं है बल्कि बहुत कुछ ईश्वर के प्रत्यय या अर्थ पर निर्भर है। गान्धी नैसर्गिक चिकित्सा को ईश्वरीय नियम मानते हैं। उनके विचार से ईश्वर स्वास्थ्य है, जीवन है, नैसर्गिक चिकित्सक है। जब वे ऐसा कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह है कि ईश्वर अर्घ या मूल्य है। ईश्वर को पथ-प्रदर्शक या रहनुमा कहने का भी यही अभिप्राय है। चूँकि गान्धी समस्त संसार की धारणा मूल्यों

या अर्घो के रूप में करते हैं और उन मूल्यों या अर्घों की मूल्यता या अर्घता को ईश्वर मानते हैं, इस कारण उनकी धारणा है कि मदद या पथप्रदर्शन ईश्वर से मिलता है।

गान्धी ने इस प्रसंग में अपने मत को स्पष्ट कर दिया है कि जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है, जो ईश्वर के लिए अपने को बलिदान नही कर सकता, जो ईश्वर की रहनुमाई, हकीमी या मदद में तनिक भी शका करता है, उसे प्रार्थना, जप, आदि से कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे ईश्वर मदद कर नहीं सकता। अतः हमारा मत है कि गान्धी की उक्त धारणाएँ प्रचलित रहस्यवाद की धारणाये नहीं हैं। वे गान्धी के संकल्प, व्रत और निश्चय का परिचय देती हैं। वे यह बतलाती हैं कि गान्धी ने ईश्वर को कितना व्यापक मूल्य समझ रखा था।

हमारा मत है कि बिना ठेठ रहस्यवाद के किसी प्रकार का भी रहस्यवाद प्राप्य नही है। जब ठेठ रहस्यवाद को गान्धी महज संभव रहस्यवाद कह कर समाप्त कर देते हैं, तो उन्हें किसी अर्थ मे रहस्य-वादी नही कहा जा सकता है। रोगों को अच्छा करने के लिए ईश्वर को स्मरण करना वस्तुतः यह बतलाता है कि रोगों को अच्छा करने की नैसर्गिक सर्वसुलभ विधि कौन है और वह स्वयमेव मूल्यवान है। मूल्य के स्वरूप को समझ लेने पर कोई कह नहीं सकता कि गान्धी ने ईश्वर को मददगार, हकीम और रहनुमा समझने में गलती की क्योंकि मददगार, हकीम और रहनुमा चाहे जो कोई हों उनमें मदद, हकीमी और रहनुमाई होना जरूरी है और ये उसी तक सीमित न होकर स्वयमेव मूल्य हैं। फिर इनकी मूल्यता के स्वरूप को ईश्वर मान लेने से कौन कह सकता है कि गान्धी की उक्त धारणाएँ रहस्यवादी हैं?

समीक्षात्मक मूल्यांकन

इन सभी युक्तियों में ईश्वर के विभिन्न-विभिन्न अर्थ किए गए हैं। प्रत्येक युक्ति में ईश्वर का भिन्न अर्थ है। इस कारण आलोचक

गण कह सकते हैं कि गान्धी के अनुसार ईश्वर का अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता है।

दूसरी शंका जो की जा सकती है वह यह है कि शायद ये सभी युक्तियाँ गान्धी को छोड़कर अन्य किसी को संतोष न दें।

तीसरी शका यह हो सकती है कि इन युक्तियों में कइयों का आपस में बेमेल है, उदाहरण के लिए सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति और प्रतिगोचर-मय निगमन का, तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति और मूल्यमीमांसक युक्ति का, परस्पर विरोध है।

इन तीनों शंकाओं का उत्तर हम एक साथ यह कह कर दे सकते हैं कि गान्धी ने ईश्वर को सदा मूल्य या परम पुरुषार्थ के रूप मे समझा। प्रत्येक युक्ति जिस किसी अर्थ मे ईश्वर को लेती है, वह अर्थ एक मूल्य है। उसकी स्वयमेव उपयोगिता है, स्वयमेव महत्त्व है। ऐसे सभी अर्थों की अर्थता ईश्वर है। वह कोई विशेष अर्थ या मूल्य नहीं है। वह अर्थतामात्र है, मूल्यमात्र है। इस कारण वह प्रत्येक अर्थ मे, प्रत्येक मूल्य मे, विद्यमान है। सभी युक्तियों को हम इस अर्थ मे ठीक कह सकते हैं कि उन सब मे प्रत्येक यह सिद्ध करती है कि जिस किसी विशेष अर्थ मे हम ईश्वर को लें, उसकी अर्थता सदैव प्रतिगोचर रहती है, वह गोचर और अगोचर नहीं होती है। वह स्वयंसिद्ध है। वह अन्य विषयों का आश्रय या आधार है। उसके रहने पर ही अन्य विषय संभव होते है। वही सबको स्थिर करती है।

इन युक्तियों मे परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि वे इस बात में एक-रूप है कि अर्थता इश्वर है, हां यदि हम विशेष अथा को ही ईश्वर मान लें, तो सचमुच उनम विरोध है। पर युक्तियाँ वस्तुतः उन विशेष अर्थों को नही सिद्ध करती हैं, वे उनकी अर्थता को सिद्ध करती है। अत उनकी एकवाक्यता बनी हुई है।

इन युक्तिया स गान्धी को सन्तोष था— यह निर्विवाद है। यह कहना कि इनस शायद किसी को सतोष न हो, वस्तुतः यह मानना है

कि इनका कोई महत्त्व ही नहीं है। वस्तुतः इन युक्तियों को दार्शनिक-गण सनातन काल से देते आ रहे हैं। गान्धी ने भी उनका व्याख्यान किया। ये सनातन दर्शन की युक्तियाँ हैं। आज भी इनमें से कतिपय को विश्व के दार्शनिक दे रहे हैं। इससे साफ जाहिर है कि इन युक्तियों से बहुतों को सतोष हुआ है और हो रहा है।

इन युक्तियों मे कुछेक मे दिखलाया गया कि ईश्वर तर्क-सिद्ध है और एक-दो मे कहा गया कि ईश्वर तर्क से सिद्ध नहीं है, वह श्रद्धा से सिद्ध है। यहाँ भी लोगों को विरोध लगेगा। पर वस्तुत. विरोध नहीं है। ईश्वर तर्क-सिद्ध है और श्रद्धा-सिद्ध भी है। वह तर्कसम्मत होते हुए भी तर्कोर्ध्व है। तर्कोर्ध्व होन के कारण वह पूर्णतया तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। हां, कुछ हद तक, कुछ अंशों में, तर्कतः उसको सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुत. मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियाँ और मार्गे हैं। प्रत्येक की संतुष्टि अनिवार्य है। इस कारण हर प्रवृत्ति या माग के अनुसार ईश्वर को सिद्ध किया जा सकता है। प्रवृत्ति से, बुद्धि से, श्रद्धा से, हृदय से, हम उसको सिद्ध कर सकते हैं।

इश्वर को अर्थतामात्र मान लेने से ही सब प्रश्न हल नहीं हो जाते। हमे अर्थतामात्रता को समझना है। अब हम इसका ही निरूपण करेंगे।

ईश्वर का अर्थ

पहले हम देखेंगे कि गान्धी ने ईश्वर को किन-किन रूपों में लिया। यदि हम साधारण मनुष्य के अनुभवों से लेकर गान्धी के परिपक्व विचार तक चले तो हमें ईश्वर के निम्नलिखित अर्थ क्रमशः मिलेंगे :—

१—*रामनाम*— गान्धी साधारण हिन्दू परिवार में पैदा हुए थे। इस कारण उन्हे मन्दिरों मे जाने के अवसर बचपन मे ही मिलते रहे। पर मन्दिरों मे भ्रष्टाचार था। इस कारण गान्धी को वहाँ से ईश्वर

का पदार्थ-पाठ न मिला। इस विषय मे उन्हें पहला पदार्थ-पाठ अपनी दाई रभा से मिला। "वह कुटुम्ब की पुरानी नौकरानी थी। मैं भूत-प्रेत आदि से डरता था। रभा ने मुझे बताया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम की अपेक्षा रभा पर अधिक श्रद्धा थी, इसलिए मैंने बचपन में भूत-प्रेत के भय से बचने को रामनाम का जप आरंभ किया" (आ० पृ० ३८)।

यहाँ रामनाम ईश्वर है। रामनाम या ईश्वर का अर्थ यहाँ भूत-प्रेत से रक्षा करने वाला है। दूसरे शब्दों मे रामनाम का अर्थ अभय-दाता है जो अदृश्य है। रामनाम = अदृश्य अभय-दाता।

यहाँ यह ध्यान रहे कि राम शब्द का दार्शनिक अर्थ परम सुन्दर या उदात्त है और प्रचलित अर्थ है दशरथ-सुत, सीता-पति। पर इन दोनों अर्थों से भिन्न, अदृश्य अभयदाता के रूप मे ही गान्धी को पहले ईश्वर से परिचय हुआ।

अस्तित्ववादी यहाँ कहेंगे कि भय (Dread) में सच्ची सत्ता का ज्ञान होता है। गान्धी को अपने भय मे ही ज्ञान हुआ कि उनके पास भय को दूर करने की भी शक्ति है। वे भय और अभय दोनों के पात्र हैं। भय करना और इस से बचने का उपाय करना हमारे अस्तित्व का परम लक्षण है।

अफसोस यह है कि अस्तित्ववादी यहीं रुक जाते हैं। पर गान्धी इस आरंभिक अवस्था से आगे बढ़ते हैं।

२—(क) *दशरथसुत राम*— दाई से रामनाम का परिचय पाने के अनन्तर गान्धी ने रामायण की कथा सुनी जो उनके घर के पास ही हो रही थी। 'राम' शब्द का संबंध रामायण से था और फिर राम की ही उसमें कहानी थी। संभवतः इसी कारण से गान्धी दशरथ-सुत और सीता के पति मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को ईश्वर मानने लगे। यहाँ राम का अर्थ है = दशरथ-सुत, सीता-पति और मर्यादा-पुरुषोत्तम या नीति के अनुसार चलने वाला।

(ख) *कृष्ण*— कुछ इसी समय गान्धी ने भागवत की कथाएँ सुनीं जिनमें कृष्ण को ईश्वर कहा जाता है। यहाँ उन्हें पता चला कि कृष्ण योगिराट्, सपूर्णावतार और मनमोहन हैं।

इन दोनों प्रसगों से गान्धी को अवतारवाद का ज्ञान हुआ। उन्होंने समझा कि न राम ईश्वर हैं और न कृष्ण। वे ईश्वर के अवतार हैं। ईश्वर का अर्थ है अनन्त गुण वाला। उसके अवतारों में कतिपय गुण ही रहते हैं। कृष्ण में प्रायः ईश्वर के सभी गुण होते हैं।

अब उनको पता चला कि ईश्वर है वस्तुतः निराकार, पर वह अवतार लेता है, शरीर धारण करता है, केवल धर्म या नीति की स्थापना के लिए। उस निराकार ईश्वर को वे 'राम' कहने लगे। कबीर के शब्द कि "दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।", उन्हें पसन्द आया। इसी ईश्वर के अवतार होते है। राम शब्द अब अनेकार्थक हो गया, इसलिए इस शब्द से जो सत्ता व्यक्त होती है, उसे ही ईश्वर कहा गया। राम से बढ़कर नाम का महत्त्व समझा गया। नामी को ईश्वर कहा गया। कृष्ण और राम उसके नाम माने गए।

३—*अनन्त नाम*— बाद को गान्धी ने विष्णु सहस्र नाम से परिचय प्राप्त किया। अब क्या था ? अब तो उन्हें अपने ईश्वर में और भी अधिक विश्वास हो गया। उन्होंने समझा कि उस ईश्वर के ही अनन्त नाम हैं, अनन्त अवतार हैं। ये सभी नाम वस्तुतः ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर एक होता हुआ भी अनेक नाम वाला है।

यहाँ उन्हें निगुण और सगुण का सम्बन्ध भी मिल गया। ईश्वर इसलिए निगुण नहीं है कि उसमें कोई भी गुण नही है, बल्कि इस लिए है कि उसमे अनन्त गुण हैं। वह इसलिए निराकार नही है कि उसका कुछ भी आकार नहीं है बल्कि इसलिए कि उसके असंख्य आकार हैं।

"ईश्वर के उतने अधिक नाम हैं जितने कि जीव हैं। इसलिए हम कहते हैं कि ईश्वर नामरहित या अनाम है। और चूँकि ईश्वर के

अनेक आकार हैं, इस कारण वह निराकार है। चूँकि वह हमसे अनेक जिह्वाओं द्वारा बोलता है, अतः हम उसे अवाक् कहते हैं" (हि० ध० पृ० ६६—६७)।

विष्णुसहस्रनाम के परिचय से गान्धी को यह भी मानना पड़ा कि ईश्वर के अनेक अवतार है। वस्तुतः सभी अवतार ईश्वर के समीप रहने वाले व्यक्ति हैं, ईश्वर तो अवतार लेता ही नहीं हैं। इस प्रकार उनकी अवतारवाद की धारणा बदली। पहले वे वास्तविक अवतार में विश्वास करते थे, अब वे उसमे विश्वास करते हुए भी एक कदम आगे बढ़े। "ईश्वर मनुष्य नही है। इसलिए वह किसी मनुष्य में उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह निरा सत्य नही है। एक तरह से ईश्वर किसी खास मनुष्य मे उतरता है; ऐसा कहने का मतलब सिर्फ इतना ही हो सकता है कि वह मनुष्य ईश्वर के ज्यादा निकट है। उसमें हमें ज्यादा ईश्वरपन दिखाई देता है। ईश्वर तो सब जगह विद्यमान है। वह सब में मौजूद है, इसलिए हम सब ईश्वर के अवतार हैं। मगर ऐसा कहने से कोई मतलब हल नहीं होता। राम, कृष्ण इत्यादि को हम अवतार कहते हैं, क्योंकि लोगों ने उनमें ईश्वर के गुण देखे (ब्र० २ पृ० ५७)।"

अवतारवाद का इस प्रकार नया अर्थ ज्ञात होने पर गान्धी ने राम और कृष्ण को दशरथसुत और गोपाल कहना छोड़ नहीं दिया। ईश्वर के अर्थ में विकास हो रहा है, ह्रास नहीं। अर्थ बढ़ता जा रहा है। किसी भी स्तर पर ईश्वर का अर्थ पूर्व स्तरों के अर्थ को छोड़ नही रहा है। बल्कि उसको और अधिक गाढ़ा कर रहा है। उसका और अधिक मूल्यांकन कर रहा है। इस प्रसंग में गान्धी के निम्नलिखित शब्द स्मरणीय हैं.—

"सबसे पहले मैं राम को सीता के पति के रूप में पूजता था। किन्तु उसके बारे में ज्यों-ज्यों मेरा ज्ञान और अनुभव बढ़ता गया त्यों-त्यों मेरे राम अमर और सर्वव्यापी होते गये। इसका यह मतलब नहीं कि राम अब सीतापति नहीं रह गये; बल्कि यह कि सीतापति का

अर्थ राम के अर्थ के साथ फैलता गया। इसी तरह दुनियाँ विकास करती है। जो मनुष्य राम को सिर्फ दशरथसुत मानता है, उसके लिए राम सर्वव्यापी नहीं हो सकते। किन्तु राम को ईश्वर मानने वालों के लिए सर्वविद्यमान रामपिता भी सर्वविद्यमान हो जाता है, पिता और पुत्र एक हो जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह सब कल्पना की बात है। इस प्रसग मे मैं यही कह सकता हूं कि यह हर आदमी को अपनी श्रद्धा के अनुसार मालूम हो।.... जब हम धर्म से थक जाते हैं तो हम अनीश्वरवादी हो जाते हैं, और तब हमारी अल्प आत्मा को छोड़कर कुछ नहीं है, ईश्वर भी नहीं है। किन्तु जब हमें सच्ची समझ मिल जाती है, तो अल्प आत्मा नष्ट हो जाती है और ईश्वर ही सब कुछ हो जाता है। तब राम दशरथ-सुत, सीतापति, भरत-लक्ष्मण के भाई हैं भी और नहीं भी हैं तथापि अज और नित्य ईश्वर हैं (रामनाम पृ० १७)।"

४— *राम-रहीम, कृष्ण-करीम*— ईश्वर को एक, अज, नित्य, निराकार, अनन्त गुणवाला, सत् मानते हुए गान्धी ने केवल हिन्दू धर्म के अनुसार ही ईश्वर के अर्थ का इतना विकास किया। उसके अनन्तर उन्होंने कुरान और बाइबिल तथा जेन्दा-अवस्ता का परिचय प्राप्त किया। इनके अध्ययन से उन्हें पता चला कि कोई केवल कुरान, केवल पुरानी बाइबिल, केवल नयी बाइबिल या केवल जेन्दा अवस्ता की परम्परा के अनुसार चलकर भी वैसे ही रामनाम से अनन्त नाम वाले ईश्वर तक पहुँच सकता है जैसे वे स्वयं हिन्दू धर्म के अनुसार पहुँचे।

इस ज्ञान तथा अनुभव ने उन्हें यह मानने को विवश किया कि सब धर्मों का ईश्वर वस्तुतः एक ही है। इस्लाम में उसको खुदा, करीम रहीम, अल्लाह, आदि कहते हैं तो ईसाई मत में गाड, यहूदी मत में जिहोवा और पारसीमत में अहुरा मज्दा। ये सब भी उनको रामनाम के ही पर्याय मिले

इस अवस्था में गान्धी की दृष्टि हिन्दू धर्म से बढ़कर विश्व-धर्म तक हो गई। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने हिन्दूधर्म का तिरस्कार

कर दिया, बल्कि यह कि हिन्दूधर्म का अर्थ बढ़ गया है। उसमें प्रत्येक धर्म का समावेश हो गया। जो ईश्वर राम, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, आदि था, वही अब अल्लाह, गाड, अहुरा मज्दा, जिहोवा और पता नहीं और क्या-क्या हो गया। उसके नाम हमारी भाषा द्वारा नही बल्कि अन्य भाषा द्वारा भी हैं।

५—*प्रेम* ईश्वर है। अभी तक गान्धी ईश्वर को किसी-न-किसी नाम से ही प्रायः संबोधित करते रहे यद्यपि वे उस नाम से किसी-न-किसी गुण का अर्थ लेते थे। इसी समय उन्हें भारतीय सन्तों तथा ईसाई सन्तों के अनुभवों से परिचय हुआ। कबीर-नानक जैसे सन्तों में गान्धी ने अपने ही अनुभवों का विकास पाया। इन सभी देशी तथा विदेशी, निर्गुण तथा सगुण उपासक संतों के अनुभवों में गान्धी ने एक विचित्र एकता देखी। वह यह कि सभी इस बात पर सहमत है कि ईश्वर प्रेम है। अतः गान्धी ने ईश्वर को प्रेम कहना आरंभ किया।

यहाँ प्रेम से भक्ति का अर्थ लेना चाहिए जिसमें अहंकार तथा भोग का लेश भी नहीं रहता।

६—*ईश्वर सत्य है*— यद्यपि ईश्वर को प्रेम मानना उपयुक्त है फिर भी प्रेम का प्रायः अनर्थ किया जाता है। त्याग, बलिदान, भूतदया रूपी जो बहुमूल्य प्रेम का अर्थ है वह प्रायेण भुला दिया जाता है। इसको लौकिक रति समझ लिया जाता है। फिर प्रेम से व्यष्टित्व टपकता है। लगता है कि ईश्वर कोई मूल्य नही वरन् भावना-मात्र है। प्रेम मूल्य है, पर प्रायः उसको मूल्य रूप से न समझ कर लोग भावना-रूप से समझते हैं। इन कारणों से और भारतीयों सन्तों के अनुभवों से शिक्षा लेकर ईश्वर को गान्धी ने ईश्वर सत्य है कहना शुरू किया। सत्य के अन्दर सत्ता, प्रेम, अभयदाता, तथा ईश्वर को व्यक्त करने वाले प्रत्येक नाम से द्योतित गुण का उन्होंने समावेश किया। निदान अब वे "ईश्वर सत्य है" इस रूप मे ईश्वर को समझने लगे।

सकल नैतिक गुणों और व्रतों को उन्होंने सत्य के अन्दर समझा। सत्य ईश्वर का पर्याय माना गया। वह ब्रह्म समझा गया।

७— *सत्य ईश्वर है*— तद्यपि 'ईश्वर सत्य है' इस वाक्य से गान्धी सत्य और ईश्वर का अभेद ही समझते थे, पर कुछ लोगों का इससे विरोध था। कुछ लोग ईश्वर को कम व्यापक और सत्य को अधिक व्यापक समझते थे। नास्तिक या निरीश्वरवादी इनमें मुख्य थे। 'ईश्वर' से सकल मूल्यों का बोध नहीं होता है। सत्य से सब मूल्यों का बोध होता है। ईश्वर से केवल धार्मिक मूल्यों का प्राय बोध होता है। पर गान्धी अब उस अवस्था तक पहुँच गए थे कि उन्हें प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्रतीत होता था। वे स्वास्थ्य, सेवा, कायिक श्रम, स्वदेशी, राजनैतिक आन्दोलन और साहस, अहिंसा आदि नैतिक गुणों को भी मूल्य समझते थे। वे इनमें से प्रत्येक को ईश्वर कहने लगे थे। इससे यद्यपि ईश्वर का अर्थ महामूल्य या मूल्यता या अर्थतामात्र हो गया था तो भी कुछ लोगों को लगता था कि यह अर्थ की खींचा-तानी है। अतः कुछ इन्हीं कारणों से गान्धी ने 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाय 'सत्य ईश्वर है', कहना शुरू कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि जो सत्य सभी मूल्यों—व्यावहारिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, सामाजिक, शारीरिक, वैयक्तिक मूल्यों, का प्राण है, वही ईश्वर है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का अर्थ है 'मूल्यमात्रता' या सकल मूल्यों का योग।

ईश्वर के अर्थ के इस विकास-क्रम मे निम्नलिखत बातें उल्लेख योग्य हैं—

१— प्रत्येक अवस्था में ईश्वर का अर्थ कोई-न कोई मूल्य है?

२— अनुवर्ती अवस्था द्वारा पूर्ववर्ती अवस्था का अर्थ बढ़ जाता है, निराकृत नहीं कर दिया जाता।

३— जिन्हें हम ईश्वर का कार्य समझने है, वे वस्तुत मूल्य हैं और जहाँ वे एक ओर हमारी आवश्यकता को संतुष्ट करते हैं वहाँ दूसरी ओर उनका स्वयं मूल्य है अर्थात् हमसे स्वतन्त्र भी उनका अर्थ है।

सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति कृतित्व, कारणिक युक्ति पितृत्व, नैतिक युक्ति नैतिक आदर्श या निःश्रेयस, औपेयिक युक्ति अनुक्रम, सप्रयोजनता सुन्दरता और उदात्तत्व, तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति अस्तित्व, प्रतिगोचरमय निगमन अनुभवाश्रयत्व, मूल्यमीमांसक युक्ति मल्यों, शब्द-प्रमाण धर्म-ग्रन्थों का मूल्य, ऐतिहासिक साक्ष्य प्राचीन संतो के अनुभवों के मूल्य, व्यावहारिक युक्ति व्यवहार, अस्तित्वदार्शनिक युक्ति संकटापन्न क्षणों तथा गुह्यवस्तुओं और रहस्यवादी युक्तियाँ विकास की अनन्तता-जैसे मूल्यों को सिद्ध करती है। इन सभी मूल्यों के योग को ही हम सत्य या ईश्वर या ब्रह्म या राम-कृष्ण आदि कहते हैं। यदि ईश्वर के इस अर्थ को हम ध्यान मे रखें तो प्रत्येक युक्ति हमे अपने साध्य के लिए ठीक प्रतीत होगी। हां, यदि हम किसी युक्ति से उसका कार्य न लेकर दूसरा कार्य लें, तो वह सचमुच हास्यास्पद प्रतीत होगी। उदाहरण के लिए सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति से उसके कार्य कृतित्व की सिद्धि न लेकर यदि हम उससे उदात्तत्व की सिद्धि चाहें, तो वह युक्ति बिलकुल गलत प्रतीत होगी। वस्तुत. जैसे हमारे शरीर के प्रत्येक अंग का अपना निश्चित स्थान है, वैसे मूल्य के जगत् में प्रत्येक मूल्यों का अपना निश्चित स्थान है। हमारे पास इन मूल्यों को समझने के लिए निश्चित शक्तियाँ हैं। प्रत्येक शक्ति से हमें उसका ही कार्य लेना चाहिए। इस प्रकार देखने से बुद्धि, श्रद्धा, प्रत्यक्ष और प्रवृत्तियों का हमारे व्यक्तित्व में निश्चित महत्त्व है। सबका अपने स्थान पर महत्त्व है। दूसरे के स्थान पर प्रत्येक का महत्त्व नहीं है।

सगुण-निर्गुण-विवाद

हम देख चुके हैं कि गान्धी ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों मानते थे। वे सगुण ईश्वर तक ही नही पहुँचे थे, वरन् उसका उपसंक्रमण कर निर्गुण ब्रह्म का भी ध्यान करते थे। उनके निम्नलिखित शब्द इस विषय के प्रमाण हैं—

(क) "ईश्वर स्वय न नर है, न नारी है, उसके लिए न पंक्तिभेद है, न योनिभेद, वह 'नेति नेति' है" (प्रा० १ पृ० १३१)।

(ख) "चाहे उसे ईश्वर कहो या अल्लाह या गाड या अहुरा मज्दा। उसके असंख्य नाम हैं, उतने जितने मनुष्य हैं। वह एक और अद्वितीय है। वही अकेला ब्रह्म या बृहत् है। उससे बृहत् कोई नही है। वह कालातीत, निराकार, निष्कलंक है। ऐसा मेरा राम है। वही अकेला मेरा प्रभु और स्वामी है।" (रामनाम पृ० ५५)।

और भी नाना स्थलों पर गान्धी ईश्वर को निराकार कहते हैं और इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं कि कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि गान्धी का ईश्वर निर्गुण, निराकार, स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद से मुक्त अद्वैत ब्रह्म है। यहाँ उन स्थलों के उद्धरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण पर्याप्त हैं।

इतना होते हुए भी लोगों ने गान्धी को सगुणब्रह्मवादी या अनीश्वरवादी कहा है। डा० धीरेन्द्र मोहनदत्त ने कहा "यदि व्यक्तित्व का अर्थ आत्मचेतना तथा संकल्पशक्ति है, तो कहा जा सकता है कि गान्धी ईश्वर को व्यक्ति (पुरुष) मानते थे और उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्रष्टा तथा जगत् का शासक कहते थे। सब कुछ देखने पर इसलिए यह कहना युक्तियुक्त होगा कि गान्धी सगुणब्रह्मवादी या ईश्वरवादी थे, एक वैष्णव थे, अद्वैतवादी या शकर के अनुयायी नहीं थे। (फिलासिफी आफ महात्मा गान्धी पृ० २७)।"

यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि गान्धी का ईश्वर आत्मचेतना नही किन्तु चैतन्यमात्र है और उसमें सकल्पशक्ति नहीं है। उसके कार्यकलाप तो यन्त्रवत् हो रहे हैं। अनासक्तियोग में गान्धी ने कहा कि "मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यंत्र की भांति ही नियमित काम करना उचित है (गी० मा० पृ० १४१)।" इससे स्पष्ट है कि ईश्वर द्वारा कर्म उस प्रकार संकल्पकृत या बुद्धिकृत नहीं है जैसे

कि हमारे हैं। गान्धी ने कई बार कहा है कि मनुष्य अपने अनुसार ही ईश्वर को समझने की भूल करता है। "हमारे दुर्भाग्य से इन्सान ने भगवान् को अपने-जैसा बना डाला है (प० अ० पृ० २८)।" इस नृतत्त्वाकार-चितन प्रणाली को हम दूषित समझकर अगर छोड़ दें तो फिर हम ईश्वर को आत्मचेतन और सकल्पवान् नहीं कह सकते हैं। यदि ऐसा होता तो वह गुणातीत और 'नेति नेति' क्यों कहा जाता ?

गान्धी के परम ब्रह्म को गोरा ने तो बिलकुल अनस्तित्व समझ लिया। उनका कहना है कि गान्धी निरीश्वरवादी थे। उन्होंने अपने प्रमाण में गान्धी के निम्नलिखित बचन रखे—

(क) "मैं अति-निरीश्वरवादी हूं" (एन एथीस्ट विद् गान्धी पृ० ४५)।

(ख) "गान्धी ने पंडित सुन्दरलाल से अपने महाप्रयाण के कुछ दिन पूर्व ही कहा था, "यदि साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त करने में निरीश्वरवाद मदद देता है, तो मैं चाहूंगा कि कौमे निरीश्वरवादी हो जायं (वही पृ० ४६)।"

(ग) "न तो मैं कह सकता हूं कि मेरा आस्तिकवाद सही है और न कह सकता हूं कि तुम्हारा निरीश्वरवाद गलत (वही पृ० ४२)।"

(घ) "मैं तुम्हारी लड़की की शादी में आशीर्वाद देते हुए कहूंगा" "सत्य के नाम पर", ईश्वर के नाम के पर नही (वही पृ० ४५)।

(ड) सत्य का अर्थ सत्ता है . और यही सत्य ईश्वर है (वही ४५)।

गोरा आत्मा की स्वतत्रता और सत्यता में विश्वास करते हैं। वे इससे भिन्न ईश्वर को नही मानते, अतः अपने को निरीश्वरवादी कहते हैं। गान्धी उनको आदर और स्नेह की दृष्टि से देखते थे।

पर गान्धी को निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। गोरा के साथ सलाप करते हुए गान्धी अपने को ईश्वरवादी सिद्ध करते है।

वस्तुतः गान्धी ईश्वर और परम ब्रह्म मे भेद नही करते हैं। उनका ईश्वर अद्वैतवाद का ब्रह्म है। इस कारण उसे सगुण समझना या उसको न मानना दोनों गलत दृष्टियाँ हैं।

गान्धी कह सकते है कि सगुणवादी परम सत् में नृतत्त्वाकार का आरोप करते है और इस कारण उसे न समझने मे अपनी बुद्धि की अपरिपक्वता दिखलाते है। उनसे भी गये-गुजरे बुद्धिहीन वे लोग है जो उस परम सत् का बिलकुल अपलाप ही कर डालते है।

गान्धी का परम सत् सगुणवाद और निरीश्वरवाद इन दोनों दृष्टियों से पृथक् है। पर उसको समझने मे ये दोनों दृष्टियाँ कुछ सहायता दे सकती हैं, बशर्ते कि हम इन दोनों का युगपत् समन्वय करे।

अत गान्धी के ब्रह्मवाद से सगुणवाद और निरीश्वरवाद का भ्रम उत्पन्न हो सकता है और उत्पन्न हुआ है। पर इन दोनों को छोड़कर हमे उसको समझना है। पहले हम यह देखें कि क्यों गान्धी के ब्रह्म को लोग निरीश्वर समझते है? इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होगा कि वस्तुतः गान्धी का ब्रह्म आत्मा ही है। वह शकर के आत्माद्वैतवाद का ब्रह्म है। वही सत् है, चित् है और आनन्द है। वह स्रष्टा आदि नही है। कहना नही होगा कि यदि निरीश्वरवाद का यही अर्थ है तो हम गान्धी के ब्रह्म को निरीश्वर समझ सकते हैं।

सगुणवादी क्यों गान्धी के ब्रह्म को सगुण ईश्वर कहते है? इसका समाधान यह है—गान्धी प्रार्थना मे विश्वास करते हैं। वे ब्रह्म को स्वामी-प्रभु मानते है और स्वयं को दास। वे ब्रह्म को अर्पण करके ही सब काम-काज करते हैं। वे अपने को ब्रह्म नही मानते और कहते हैं कि ब्रह्म उनका आदर्श है, न कि वास्तविकता। उस ब्रह्म में अनेक या अनगिनत गुण हैं। इसलिए वह सगुण है। कहना नहीं होगा कि यदि सगुणवाद का इतना ही अर्थ है तो गाधी सगुणवादी कहे जा सकते है।

पर निरीश्वरवाद और सगुणवाद के इतने ही अर्थ नही हैं। अन्य अर्थो मे हम गान्धी को निरीश्वरवादी या सगुणवादी नही कह सकते।

हिन्दी के सन्तों ने सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, और सत्यरूपी आत्मा का इस प्रकार समन्वय किया है कि तीनों एकमेक हो गए है। यही कारण है कि हिन्दी के निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों प्रकार

के सन्त इस परम सत् को 'राम' कहते हैं और उसके नामों में उन नामों का भी उल्लेख करते हैं जिनसे सगुण ब्रह्म या उसके अवतार का बोध होता है। गान्धी इसी परम्परा के अनुयायी हैं। उनके अनुभवों में सन्तों की जीती-जागती अनुभूति है। इस परम्परा ने जो सगुण और निर्गुण का समन्वय किया है वह गान्धी की भजनावलि और रचनाओं मे देखने में आता है।

सगुण और निर्गुण का समन्वय निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

तुलसीदास की यह चौपाई भजनावलि में दी हुई है जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालती है—

फूले कमल सोह सर कैसे।
निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे॥

झील भर में कमल फूले हैं। झील कैसे लग रही है? जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जाता है।

निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का आधार ही नही है, वरन् कुछ और है। यहाँ यह दिखलाया गया है कि झील भर मे कमल फूले हैं। कमलहीन झील का एक बिन्दु भी नहीं है। इस तरह यह दिखलाया गया है कि सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनों समकक्ष हैं। दोनों का क्षेत्र समान है। झील होगी तो कमल अवश्य ही खिलेंगे। यह भी यहाँ अभिप्राय है।

यदि उपमा को छोड़ दें तो सीधी भाषा मे इसके अर्थ ये होंगे—

(क) निर्गुण ब्रह्म निर्गुण इसलिए है कि उसमें अनगिनत गुण हैं।

(ख) निर्गुण ब्रह्म निर्गुण इसलिए है कि वह अनगिनत गुणों से भी अतीत है। वह उनका आधार है।

(ग) सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का अग या अंश नहीं है। दोनों में अभेद है। समूचा निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म होता है।

(घ) निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही सत् को दो दृष्टियों से देखना है। एक दृष्टि से हो वह सगुण है तो दूसरी दृष्टि से वह निर्गुण। एक दृष्टि से, जल-दृष्टि से, महज पानी वाली झील है तो दूसरी दृष्टि से वह कमलों की बनस्थली है।

(ङ) पारदर्शी लोग ही तालाब को देख सकते हैं क्योंकि कमलों के मारे पानी दिखाई नही पड़ता। पारदर्शी लोग ही निर्गुण ब्रह्म को देख सकते है। साधारण दृष्टि वाले सगुण को ही देखेंगे, कमल को ही देखेगे। इस प्रकार सगुण ब्रह्म सुलभ और निर्गुण ब्रह्म दुर्लभ है।

(च) सगुण ब्रह्म को अच्छी तरह से समझ लेना निर्गुण को समझ लेना है और निर्गुण को समझना सगुण को समझ लेना है।

(छ) परम सत् का निर्गुण स्वरूप नित्य और कूटस्थ है। उसके गुण अनित्य हैं यद्यपि उसका सगुण स्वरूप नित्य परिवर्तनशील है। झील नित्य है। कमल अनित्य हैं। पर झील सदैव कमलशील रहेगी क्योंकि कमल-सन्तति नित्य है।

(ज) बिना झील को समझे कमलों को समझना ठीक नहीं है, अन्यथा बनस्थली का भ्रम हो जायगा। बिना निर्गुण ब्रह्म के सगुण ब्रह्म को समझना गलत है।

(झ) पर निर्गुण ब्रह्म को समझने पर सगुण ब्रह्म को समझना जरूरी है। झील को समझ लेने पर कमलों को समझना जरूरी है। बिना झील को समझे कमलों का समझना उतना सरस और सुन्दर नहीं है जितना कि झील के सहित कमलों को समझना।

(ञ) कमल झील मे कृत्रिम नहीं है। किसी ने लगाया नहीं है। वे स्वभावत: उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार स्वभावतः निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म उत्पन्न होता है।

(ट) सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म की शोभा है। कमल झील की शोभा है। सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का आभरण है।

(ठ) सगुण ब्रह्म का उद्देश्य या लक्ष्य निर्गुण के इशारे पर चलना है। कमलों का उगना, फूलना और हिलना झील के इशारे पर है। सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का खिलौना है। झील कमलों से खेलती जान पड़ती है।

(ड) तात्त्विक दृष्टि से सत्य झील है और कमल की दृष्टि से सत्यता, सत् नहीं, झील के इशारे पर चलना है। सत् निर्गुण ब्रह्म है। सत्यता सगुण ब्रह्म का निर्गुण के इशारे पर चलना है। सगुण की सत्ता निर्गुण है। और इस सत्ता के कारण सगुण का कर्त्तव्य है कि वह निर्गुण का कार्य करे।

(ढ) सगुण ब्रह्म जीवधारियों का ऐसा समूह है जिसमें व्यक्तियाँ तो नष्ट हो रही है और जन्म ले रही है, पर समष्टि जिसकी सदैव बनी है।

इसी झील और कमल के उदाहरण से हम तुलसी और कबीर के अन्तर को भी समझ सकते हैं। तुलसी दास सगुण और निर्गुण को अच्छी तरह समझकर एक गुण विशेष पर, एक कमल विशेष को, ले लेते हैं और उसी को समझ-बूझकर खूब वर्णन करते हैं। वे राम के चरित को ही लेते हैं और उसी से सब कुछ ठीक ही देखते है। कबीर कहते हैं कि ऐसे अनगिनत 'राम' है, प्रतिक्षण हो रहे हैं और लय भी होते जा रहे हैं। इस तरह कबीर की दृष्टि कमल-सन्तति पर है तो तुलसी की दृष्टि कमल विशेष पर। इसी भाव को कबीर की निम्न-लिखित पंक्तियाँ जो भजनावलि मे सगृहीत है, स्पष्ट करती हैं।

श्री परमपुरुष देवाधिदेव,
भक्तहेत नरसिंह भेख,
कहे कबीर कोऊ लख न पार,
प्रहलात उबारे अनेक बार।

अनेक बार ब्रह्म नरसिंह रूप धरता है और प्रह्लाद को तारता है। तुलसी दास भी इस तत्त्व को जानते थे। वे कहते हैं—हरि अनंत

हरि कथा अनन्ता। पर जहाँ कबीर की दृष्टि सन्तति पर ज्यादा है वहाँ तुलसी की उसकी एक कड़ी पर।

गान्धी गीताबोध में तुलसीदास की ही तरह कहते है—

"जो निराकार तत्त्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इन्द्रियों का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, किसी को ऊंच-नीच नही गिनते, वे भी मुझे (भगवान को) पाते हैं।...... पर निराकार की भक्ति शरीरधारी द्वारा संपूर्ण रूप से होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। अतः सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं (गी० मा० पृ० ७३)।"

और

"वह सत् नही है और असत् भी नही है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टि से उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यता को भी मनुष्य नही पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पाँव वाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं यह जान पड़ते हुए भी वह इन्द्रिय-रहित है, उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। इन्द्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं हैं। पर ब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि वह सब में व्याप्त है और सब को धारण किए हुए है, इससे गुणों का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है। प्राणियों के अंदर तो वह है ही, क्योंकि सर्व-व्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूप का नाश है तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है, पर असख्य प्राणियों में है यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्त रूप से भी भासित होता है (वही पृ० ७८)।"

दार्शनिक पदावली का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि सगुण और निर्गुण का संबन्ध तत्त्वतः यों है—

(१) निर्गुण व्यापक है तो सगुण व्याप्य। यह संबन्ध व्याप्य-व्यापक संबन्ध है। यह अन्तर्यामिता (Immanence) है। निर्गुण अन्तर्यामी है।

(२) निर्गुण सगुणातीत है पर सगुण को समेट कर। यह बहिर्यामिता (transcendence) है जिसमें अन्तर्यामिता समन्वित है। निर्गुण बहिर्यामी और अन्तर्यामी दोनों है। उसकी अन्तर्यामिता ही उसकी बहिर्यामिता है। अतः अन्तर्यामिता बहिर्यामिता का अंश नहीं है।

(३) सगुण निर्गुण की लीला-सृष्टि है। इस संबन्ध का विवेचन देहतत्त्व और जगत् के अध्याय में किया जायगा।

निर्गुण और सगुण दोनों के मानने वालों को सत्य नाम पसंद है। इसी को गान्धी ईश्वर कहते हैं। अतः उन्होंने इसमें दोनों का समाहार कर लिया है। कबीर ने इस समाहार को बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है—

सत्त नाम है सब ते न्यारा।
निर्गुन सर्गुन शब्द पसारा॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल-फूला।
साखा ध्यान, नाम है मूला॥
मूल गहे तें सब सुख पावै।
डाल-पात में मूल गँवावै॥
साई मिलानी सुक्ख दिलानी।
निर्गुन सर्गुन भेद मिटानी॥

अन्त में अब यह कहा जा सकता है कि गान्धी का मत शंकर के मत के अनुसार ही है। शंकर को भी कुछ लोग निरीश्वरवादी समझते

हैं तो कुछ लोग सगुण ब्रह्मवादी। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इन दोनों भ्रान्त दृष्टियों से मुक्त होकर दोनों के ग्राह्य सार को लेते हुए उनके ब्रह्मवाद को समझते है। वस्तुत. शंकराचार्य ब्रह्म को ईश्वर भी मानते हैं। वैसे ही गान्धी निर्गुण ब्रह्म को ही सगुण ब्रह्म कहते हैं। वे शंकर तथा तुलसी और कबीर की ही परम्परा के सिद्धान्त के पोषक हैं। अतः ईश्वर-विषयक उनके सिद्धान्त को हम ब्रह्मवाद कहेंगे। इस ब्रह्मवाद को वैष्णव वेदान्तियों के ब्रह्मवाद से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि यहाँ विशुद्ध एकता है ब्रह्म और ईश्वर मे। ईश्वर ब्रह्म का अश नहीं है। वह ब्रह्म ही है।

अध्याय ७

जीव-तत्त्व

जीवों की परमार्थिता और चेतना

जिनमें जीवन होता हो उनको हम जीव या जीवधारी कहते हैं। जीवन सबका एक है, यद्यपि जीव अनेक हैं।

सभी जीव देहधारी होते हैं। देह के न रहने पर जीव जीव नहीं रह जाता। तब तो वह साक्षात् परमात्मा ही हो जाता है क्योंकि एक वही देहातीत है यद्यपि वह देहधारी भी है। देह या पुर में रहने के कारण ही जीव को पुरुष कहा जाता है (द्र० ध० नी० पृ० १३४)।

जीवों मे प्रकार-भेद हैं या योनि-भेद हैं। सामान्यत. हिन्दूधर्म में ८४ लक्ष्य योनियाँ मानी जाती हैं। गान्धी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

जीवों में प्रकारता या योनि का भेद उनकी चेतनता तथा परमार्थिता के कारण हैं। कुछ जीवों में चेतनता अल्प होती है तो कुछ में महान्। कुछ कम परमार्थी होते हैं तो कुछ अधिक। कीटाणु, कीट, पशु, पक्षी और मनुष्य, इस प्रकार चेतनता और परमार्थिता के तारतम्य में शृंखलित हैं। मनुष्य में चेतनता और परमार्थिता दोनों सब जीवों से अधिक होती हैं। डार्विन की खोजों का प्रमाण देते हुए गान्धी ने कहा, "डार्विन बताता है कि पशुओं में भी एक हद तक परमार्थ बुद्धि देखने

में आती है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान् बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणि-मात्र में परमार्थ बुद्धि थोड़ी बहुत भी न होती तो आज दुनिया में घास-पात और जह-रीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। वह दूसरों के लिए अर्थात् अपनी नीति के प्रमाण में अपने बच्चों के लिए, अपने देश के लिए अपनी जान कुरबान करता है (वही पृ० ४७)।"

फिर सर जगदीश चन्द्र बोस की खोजों को मानते हुए गान्धी ने जड़ को भी जीवधारी माना (हि० ध० पृ० ६४)। और यदि कुछ-न-कुछ परमार्थिता सब जीवों में सिद्ध की जा सकती है तो फिर घास-पात और वनस्पति तथा जड़ पदार्थों में भी वह मानी जा सकती है, परि-माण में चाहे वह भले ही अत्यल्प हो और प्रकारता में चाहे अत्यन्त निम्न हो।

सुप्त परमार्थिता से लेकर जाग्रत् परमार्थिता तक यदि हम भेद करें तो सभी जीवों में परमार्थिता है—यह अनुभव-सिद्ध है।

जो बात परमार्थिता के विषय में है वही चेतनता के बारे में भी है। वस्तुतः परमार्थिता का अटूट सबन्ध चेतनता से है। एक की उपस्थिति में दूसरी की उपस्थिति है और एक की अनुपस्थिति में दूसरी की अनुपस्थिति। चेतनता के विषय में गान्धी कहते हैं कि "हमारे वैदिक धर्म के मुताबिक 'कान्शंस' सभी में—जड़-चेतन में—होता है। पर बहुतों का कान्शस सोया हुआ रहता है अर्थात् उनकी अन्तरात्मा मूढ़ अवस्था में होती है। तो उस अवस्था में उसे कान्शंस कैसे कहा जाय (प्रा० १ पृ० ७४)।" ?

यहाँ स्पष्ट है कि गान्धी सुप्त कान्शंस को कान्शंस नहीं कहना चाहते। इसी प्रकार वे सुप्त चेतनता को चेतनता भी नहीं कहना चाहते। पर यह वस्तुतः लोक में प्रचलित जड़ और जीव के कृत्रिम भेद के

अनुसार है। वास्तविक दृष्टि में चेतनता और परमार्थिता दोनों जड़-चेतन में न्यूनाधिक मात्रा में हैं।

इस प्रसग में ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र में गान्धी का अटूट विश्वास प्रमाण-भूत है जिसके अनुसार ईशावास्यमिदं सर्व यत् किंच जगत्यां जगत् है अर्थात् जो कुछ भी इस जगत् में है वह ईश्वर अर्थात् परमार्थता और चेतनता—से व्याप्त है।

अस्तु जीवतत्त्व के प्रत्ययन में गान्धी चेतनता और परमार्थता को अवश्य मानते हैं। यह उनकी विशेष बात है। इसका तात्पर्य हुआ कि आत्मा सर्वान्तर है। इस प्रसग में ईसाइयों से उनका मतभेद बहुत प्रसिद्ध है। ईसाई मत के अनुसार आत्मा केवल मनुष्यों में है, पर गान्धी तथा हिन्दूधर्म के अनुसार आत्मा जड़ और चेतन सब में है (द्र० आ० पृ० १७१)। इतनी विशिष्टता रखते हुए भी गान्धी जीव या चेतन और जड़ का लौकिक भेद मानते हैं क्योंकि उनके मत से चेतनता सुप्त भी रह सकती है अर्थात् अव्यक्त भी रहती है।

प्राण और उसकी विशेषताएं

जीव-तत्त्व का इतना लक्षण खोजने के अनन्तर गान्धी जीव-वैज्ञानिक ढग से भी जीव के लक्षणों पर विचार करते हैं। जीवों का मूल-तत्त्व बीज-कोष है। कोषानुसार जीव-भेद होता है। कुछ जीव एक-कोषी होते हैं तो कुछ बहुकोषी। आदि-जीव (प्रोटोज़ोआन) का शरीर केवल एक कोष का होता है।

जीवों या प्राणियों में प्राण होता है। प्राण की मुख्य दो विशेषताएँ हैं, पुनर्जनन और जनन। पुनर्जनन का मतलब है जीव का अपने शरीर के विकास का उत्पादन करना और जनन का मतलब है अपनी वंश-वृद्धि करना। पुनर्जनन बीजकोष के विभाजन, विलगाव और सवर्धन की प्रक्रिया की आवृत्ति द्वारा होता है।

पुनर्जनन और जनन—ये यान्त्रिक क्रियाये नही हैं। ये चेतन क्रियायें हैं। "पुनर्जनन यान्त्रिक क्रिया—बेजान कल के पुरजों का हिलना—न

है और न हो सकता है। वह तो जीव-सृष्टि मे कोष के प्रथम विभाजन की तरह प्राण या जीव का अस्तित्व बताने वाला व्यापार है। अर्थात वह कर्त्ता मे बुद्धि और संकल्प की शक्ति होने की सूचना देता है। प्राणतत्त्व का विभाजन और बिलगाव— उसका विशिष्ट कार्यो की योग्यता प्राप्त करना शुद्ध यान्त्रिक क्रिया है, यह बात तो सोची भी नही जा सकती। इसमे सन्देह नहीं कि जीवन की ये मूलभूत क्रियाएँ हमारी वर्तमान चेतना से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि कोई बुद्धिकृत या सहज सकल्प उनका नियमन करता है, यह नही जान पड़ता। पर क्षण भर के विचार से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि पूरी बाढ़ को पहुंचे हुए मनुष्य का संकल्प जिस तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं और क्रियाओं का सचालन, बुद्धि के निर्देशानुसार करता है, वैसे ही यह भी मानना होगा कि आरभ में होने वाली शरीर के क्रमिक संघटन की क्रियाएँ भी अपनी परिस्थिति की सीमा के अन्दर, एक प्रकार की बुद्धि की रहनुमाई में काम करने वाली एक प्रकार की इच्छा-शक्ति या संकल्प के द्वारा परिचालित होती हैं। इस बुद्धि को मानस-शास्त्र के पंडित अब अचेतन मन या अन्तश्चेतना कहने लगे हैं। यह हमारी व्यष्टि सत्ता, हमारी आत्मा का ही एक अग है, जो हमारे साधारण चिन्तन से लगाव न रखते हुए अपने निज के कर्त्तव्यों के विषय मे अतिशय जागरूक और सावधान रहता है। हमारी बाह्य चेतना सुषुप्ति, बेहोशी आदि में सो जाती है, पर अन्तश्चेतना कभी एक क्षण के लिए आंख नही मूंदती।

"इस प्रकार हमारी अन्तश्चेतना ही वह प्राणशक्ति है जो शरीर के भीतरी निर्माण और विकास की पेचीदा क्रियाओं का नियमन करती है। उसका पहला काम है—गर्भयुक्त डिम्ब को अलग करना और इसके बाद प्राणी की मृत्यु होने तक मूल बीज-कोषों को जज्ब कर और उन्हें भिन्न-भिन्न अगों को भेज कर, अपने पिड या शरीर की रक्षा करते रहना (आ० पृ० १५३-१५४)"। गान्धी के इन शब्दों से साफ जाहिर है कि वे कई नामी जीव-वैज्ञानिकों की भाँति मूल प्राणतत्त्व को

अन्तश्चेतना मानते है। मूल प्राण तत्त्व को हम जीव या जीव-तत्त्व या प्राणतत्त्व कहेंगे। पुनजर्नन तथा जनन इसी के द्वारा होता है।

इस प्रकार यदि देह अथवा देह के घटक कोषों को हम छोड़ दें, तो प्रत्येक जीव के निम्नलिखित घटक हुए—

१—प्राणतत्त्व

२—अन्तरात्मा या परमात्मा या आत्मा

३—परमार्थ बुद्धि

प्राणतत्त्व का विकास

प्राणतत्त्व का विकास प्रत्येक जीव में होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इसी से विकसित हैं। जैविक व्यापार भी इसी के विकास हैं।

प्राणतत्त्व का सबसे पेचीदा विकास मनुष्य म होता है। प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान में पच प्राण प्राणतत्त्व से ही विकसित होते हैं। इसी से चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पांच इन्द्रियों के व्यापार का विकास होता है। इसी से मुख, हाथ पैर, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय इन पांच कर्मेन्द्रियों के व्यापार का विकास होता है। मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि इस अन्त करण-चतुष्टय का भी विकास प्राण तत्त्व से ही होता है।

प्राणतत्त्व से विकसित मुख्य तत्त्वों का आत्मा के साथ प्रगाढ़ संबंध है। इस प्रसंग में गान्धी कठोपनिषद् के निम्नलिखित श्लोकों का दैनिक स्मरण करते थे—

आत्मानं रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन. प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयान हुविषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

अर्थात्

समझो कि आत्मा रथ पर सवार लड़वैया है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े कहे जाते हैं, और पांच विषय

(शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) उनके गोचर मैदान हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं कि मन और इन्द्रियों के साथ जुड़ा हुआ आत्मा इन विषयो को भोगने वाला है।

ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि का विकास मानवेतर जीवों में उतना नहीं है जितना कि मनुष्य में, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा बहुत कम है। कहना चाहिए कि प्राणतत्त्व का सर्वाधिक विकसित प्राणी मनुष्य ही है। हर प्राणी का, हर मनुष्य का, प्राणतत्त्व भिन्न-भिन्न होता है। अब हम आत्मा और प्राणतत्त्व या जीव के संबन्ध पर विचार करने के लिए मनुष्य को ही लेंगे। ऊपर कहे गए कठोपनिषद् के श्लोकों से सिर्फ इतना जाहिर होता है कि आत्मा और जीव में गाढा संबन्ध है। इस संबन्ध का निश्चित अर्थ जानना है।

आत्मा और जीव का संबन्ध

आत्मा और जीव के सबन्ध को गान्धी ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। हम पहले उनका निरूपण करेंगे।

१—गान्धी की दैनिक प्रार्थना के अन्तर्गत शकराचार्य कृत प्रात स्मरण है जिसकी निम्नलिखित पक्तियाँ जीव की विविध अवस्थाओं के साथ आत्मा का सबन्ध बताती हैं—

यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसघः।

अर्थात्

जो चतुर्थ अवस्था (तुरीय) रूप है, जो जागृति, स्वप्न और निद्रा, तीनों अवस्थाओं को हमेशा जानता है, और जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मैं हूँ—पंचमहाभूतों से बनी हुयी यह देह मैं नहीं हूं।

यहाँ यह कहा गया है कि जीव की प्रायः तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा। प्रत्येक अवस्था

में जीव भिन्न रहता है। जाग्रत् अवस्था का जीव 'विश्व' कहा जाता है, स्वप्न का तैजस, और सुषुप्ति का प्राज्ञ। आत्मा न तो विश्व है, न तैजस और न प्राज्ञ, यद्यपि वह इन तीनों का आधार है और इन तीनों में इस रूप से मौजूद रहता है। यदि इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त और कोई अवस्था हो तो उनमें भी जीव विश्व, तैजस और प्राज्ञ से भिन्न होगा मगर उसका भी आधार आत्मा होगी। इस कारण आत्मा किसी अवस्था विशेष का अनुभवकर्त्ता जीव नहीं है। वह सकल अवस्थाओं का अनुभवकर्त्ता होते हुए भी उनके विशिष्ट अनुभवकर्त्ताओं से भिन्न है। इस कारण हम उसको 'तुरीय' अर्थात् जो तीन अवस्थाओं वाला न हो, वरन् चौथी अवस्था वाला हो, कहते हैं। तुरीय का मतलब शब्दतः चौथा होता है। पर यहां उसका अर्थ निषेधात्मक है अर्थात जो पहला दूसरा और तीसरा न हो। यदि और अवस्थाओं को मान लिया जाय तो हम तुरीय को 'तुरीय' (चौथा) नहीं कह सकते। यह वस्तुत. अवस्थाव्यतिरिक्त का पर्याय है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि जीवों के विश्व, तैजस और प्राज्ञ तो भिन्न-भिन्न हैं, पर उन सबकी 'आत्मा' एक है। प्रत्येक जीव का आध र 'आत्मा' है। यही आत्मा सब जीवों की आत्मा है। इसी को हम ब्रह्म कहते हैं।

आत्मा और जीव के इस संबन्ध को हम आधाराधेय संबंध कहेंगे। प्रायः इसको 'अभेद सबन्ध' भी कहा जाता है। इसलिए गान्धी इन पंक्तियों के विषय में कहते हैं कि "उनके अद्वैत सिद्धान्त को मैं मानता हूं सही, लेकिन—

तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः

कहते सकोच होता है क्योंकि उतनी साधना अभी पूरी नही हुई है (भजनावलि भजनावलि का विकास पृ० ४)।"

गान्धी आधाराधेय सबन्ध को मानते हैं। साधना के पूरी होने पर वे आत्मा और जीव के बीच अभेद संबन्ध को भी मानने को तैयार

हैं। अत. अभेद सबध संभव है, और आदर्श है पर आधाराधेय संबन्ध यथार्थ है। जो लोग अभेद संबन्ध मानते हैं वे विश्व, तैजस और प्राज्ञ को भ्रम कहते है। उनके अनुसार जीव आत्मा में भ्रम-स्वरूप नही है, बल्कि जीव के कतिपय तत्त्व जीव के आधारभूत तत्त्व आत्मा में भ्रम-स्वरूप हैं। वस्तुत. आत्मा भी तो जीव का आधारभूत तत्त्व है। बिलकुल असदिग्ध भाषा में कहें तो हम कह सकते हैं कि आत्मा के अभाव मे जीव भ्रमस्वरूप है। या आत्मा के अभाव में प्राणतत्त्व भ्रमस्वरूप है। प्राणतत्त्व व्यष्टि है, आत्मा सामान्य है। सामान्य के अभाव मे व्यष्टि का अस्तित्व नही है। व्यष्टि का अस्तित्व सामान्य मे ही है प्राणतत्त्व का अस्तित्व आत्मा या ब्रह्म में ही निगूढ़ है। गान्धी इसी सिद्धान्त को मानते हैं।

२—आत्मा और जीव के सबन्ध को पंचमहाभूतों और काल के माध्यम से वर्णन करने पर यद्यपि इसके ज्ञान में बहुत निश्चितता नहीं आती तो भी पर्याप्त स्पष्टता आ जाती है।

(क) जल की दृष्टि से इस सबन्ध को बतलाते हुए गान्धी ने कहा—

"होने का अर्थ है ईश्वर से— परमात्मा से— सत्य से पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहने वाला बिन्दु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नही होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमे मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नही दिखाई देती (ध० नी० पृ० १६६-१६७)।"

यहाँ जीव की उपमा समुद्र की बूँद से दी गई। जब तक बिन्दु समुद्र में रहता है तब तक उसे 'अपनेपन' का ज्ञान या अनुभव नहीं होता। जब वह समुद्र से अलग होता है तब उसे 'अपनेपन' का अनुभव होता है। तब वह बिन्दु बनता है, समुद्र मे उसको कोई बिन्दु कहता-समझता ही नही है। पर अलग होते ही वह सूख जाता है अर्थात्

उसका अस्तित्व मिट जाता है। यही बात जीव और आत्मा के सबन्ध में भी है। जीव जब तक आत्मा में रहता है तब तक उसे कोई जीव नहीं कहता। आत्मा से निकलने पर जीव को अपनेपन का अनुभव होता है। तब उसे जीव कहा जाता है। पर वस्तुत. तब उसका कुछ भी अस्तित्व नही है। इसलिए उसको नष्ट-अस्तित्व मान लेना ही उपयुक्त है।

पर इसका यह तात्पर्य न लगाना चाहिए कि जीव आत्मा मे रहकर अपना कर्म नहीं कर सकता। जीव आत्मा से निकलकर ही अलग रहकर अपना कर्म नही कर सकता। आत्मा मे रहता हुआ तो वह अपना कर्म बड़े अच्छे ढंग से करता है। इसलिए गान्धी ने कहा—"समुद्र से अलग हो जाने वाले बिन्दु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु समुद्र में रहने वाले बिन्दु के लिए आराम कहाँ? समुद्र को एक क्षण के लिए आराम कहाँ मिलता है? ठीक यही बात हमारे संबंध में है। ईश्वर-रूपी समुद्र मे हम मिले और हमारा आराम गया, आराम की आवश्यकता भी जाती रही (वही पृ० १६७-१६८)।" और "ईश्वर स्वयं चौबीसों घण्टे एक सांस काम करता रहता है। अगड़ाई लेने तक का अवकाश नही लेता। हम उसके हो जायँ, उसमें मिल जायँ तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतन्द्रित हो गया—हो जाना चाहिए (वही पृ० १६६)।"

यहाँ स्पष्ट है कि जीव और आत्मा में आधेयाधार संबन्ध किया गया। कुछ लोग कहेंगे कि यहाँ अङ्गाङ्गि संबन्ध है क्योंकि समुद्र अंगी है और बिन्दु अंग है, आत्मा अंगी है और जीव अग है। पर यह गान्धी को ठीक ही मान्य नही है क्योंकि जब अग से अगी अलग हो तभी तो वह अग बनता है, जब समुद्र-रूपी आत्मा से बिन्दु-रूपी जीव अलग हो तभी तो उसका जीवत्व बनता है, बिना अलग हुए न उसे अपनेपन का अनुभव होता है और न दूसरों को हो सकता है। अत इस सबध को अंगाङ्गि संबन्ध न कहकर हम आधाराधेय संबन्ध ही

कहेंगे। विन्दु समुद्र में रहता है पर समुद्र-रूप से समुद्र का कार्य करते हुए। जीव आत्मा में आत्मा के रूप से आत्मा का कर्म करता हुआ रहता है।

आत्मा का क्या कर्म है ? क्या आत्मा कर्म करती है ? इन प्रश्नों पर हम बाद मे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि गान्धी के अनुसार आत्मा परमार्थ करती है और यह परमार्थ उसका स्वार्थ भी है।

(ख) तेज या अग्नि की दृष्टि से गान्धी ने आत्मा और जीव के सबन्ध को बतलाते हुए उर्दू की एक प्रसिद्ध कविता का उद्धरण किया—

"आदम को खुदा मत कहो आदम खुदा नहीं।
मगर खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं" (वही पृ० ५३)।

आदम या मनुष्य अर्थात् जीव खुदा या परमात्मा नही है। मगर वह परमात्मा के प्रकाश से पृथक् भी नहीं है।

इस प्रसग मे गान्धी-दर्शन को द्वैताद्वैती तथा सगुण-ब्रह्मवादी निम्बार्क के दर्शन की भाँति समझाने वाले डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त ने कहा—

"इस स्थान पर हमे फिर गान्धी की पसद द्वैत अद्वैत-संबन्ध के किसी उस प्रकार के पक्ष मे मिलती है जिसका समर्थन वैष्णव वेदान्ती और अर्वाचीन काल में रवीन्द्रनाथ टैगोर विविध ढंग से करते हैं। शंकर के अनुयायी केवलाद्वैत के पोषक हैं। गान्धी मनुष्य और ईश्वर सबन्धी अपन विचारों को क्रियाशील और गतिशील रखने का प्रयत्न करते हैं। इस कारण वे ईश्वर को शक्ति, जीवन, आदि के रूप मे सोचते हैं ताकि उससे सृष्टि, अवतार और अनग्रह की बहुमुखी विचार सरणियों को मान्यता मिले (दि फिलासिफी आफ महात्मा गान्धी पृ० ६४)।"

डा० दत्त का कहना है कि गान्धी के अनुसार जीव आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों है। इसे शंकर भी कुछ हद तक मानते हैं; इसीलिए तो वे जीव को सत् और असत् दोनों से अनिर्वचनीय कह कर माया करार करते हैं।

हमारी समझ से शकर का कोई भी अनुयायी मनुष्य को ईश्वर नही कहता है, जीव को आत्मा नही कहता है। शकर का वस्तुतः सिद्धान्त है कि जीव का स्वत अस्तित्व नहीं है और जीव का आधार आत्मा है। जब कहा जाता है कि वह तू ही है (तत्त्वमसि) या सोहमस्मि (मैं वही हूं) तो यहाँ यह मतलब नही है कि मनुष्य ईश्वर है। यहाँ मतलब है कि मनुष्य का आधार ईश्वर है, उस आधार को प्राप्त करने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, तब ईश्वर ही एकमात्र रहता है। तत्त्वमसि, सोहमस्मि तथा इस प्रकार के अन्य वाक्य वस्तुतः ईश्वर ईश्वर है, ब्रह्म ब्रह्म है, आत्मा आत्मा है, यह अर्थ देते है।

सवाल यह है कि क्या आदम मे खुदा का नूर नही है ? वस्तुत. आदम की नीव ही खुदा के नूर पर है। इसीलिए कहा गया कि 'मगर खुदा के नूर से आदम जुदा नही'। जब कहा गया कि आदम खुदा नही है तो इसका मतलब यह है कि मनुष्य ईश्वर नही है। जीव आत्मा नही है। अत. गान्धी के इन वचनो का अद्वैत दर्शन से विरोध नही है।

पर सवाल अब भी बना हुआ है कि क्या इन्सान खुदा से मिलने पर इन्सान रहता है ? डा० दत्त का अभिप्राय लगता है कि उनके अनुसार गान्धी का मत है कि ईश्वर-प्राप्ति के अनन्तर भी इन्सान इन्सान बना रहता है। समुद्र और विन्दु वाले दृष्टान्त से हम कह सकते हैं कि यह असंभव है। समुद्र को प्राप्त करने पर विन्दु विन्दु नही, समुद्र रह जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि वाह साहब ! क्या समुद्र मे विन्दु नही रहता ? विन्दु तो वहाँ रहता ही है। इसका उत्तर यह है कि विन्दु तभी रह सकता है जब विन्दु का अपनापन हो। समुद्र में विन्दु का अपनापन नही रह सकता। इस कारण समुद्र मे विन्दु विन्दु नहीं है। यही हाल जीव का भी है। भिन्नता का मतलब ही है पृथक् होना। गान्धी ने स्पष्ट कह दिया 'कि होने का अर्थ है ईश्वर से परमात्मा से—सत्य से— पृथक् हो जाना'। यह होना गान्धी के अनु-

सार भी मिथ्या है। इसका विवेचन सविस्तर हम बाद मे करेंगे। गान्धी यह सदैव मानते है कि जगत् में जो कुछ है वह ईश्वर से व्याप्त है। अतः पृथक् होना केवल कपोल-कल्पना है।

इस कारण जीव और आत्मा का सबन्ध द्वैताद्वैतवादी के अनुसार नही, किन्तु अद्वैतवादी के अनुसार है। यदि हम समुद्र को अनगिनत विन्दुओं का महायोग ही कहें तो भी हमे यह मानना पड़ेगा कि ये सकल विन्दु परस्पर एकमेल होकर एकरस—समरस—हो गए हैं, यहाँ तक कि किसी का पृथक् रहना सभव नही है। जब जल जैसे पदार्थ की यह एकरस एकता है तो ज्ञान-विज्ञान के समुद्र के एकता के विषय मे कहना ही क्या है? वह तो और भी एकरस होगा? इस कारण उसको केवल अद्वैत कहना ही उचित है। द्वैत और अद्वैत का योग उसे कहना किसी प्रकार से भी न्यायसगत नही है।

प्रकाश जीव और आत्मा के सबध के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करता है। प्रकाश सदा एकरूप रहता है। उसमे विन्दु नही होते। उपर्युक्त उर्दू पद्य का पूरक रैदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ है जो गान्धी की भजनावलि मे शामिल हैं —

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥

आत्मा या परमात्मा दीपक है। जीव उसकी बत्ती है। बत्ती जल रही है, प्रकाश हो रहा है। जीव के अस्तित्व का, बत्ती के अस्तित्व का, लय हो रहा है, पर दीपक का प्रकाश बढ़ रहा है। आदम खुदा का नूर है पर वह अपनी इन्सानियत या अपना आदमपन जलाकर, मिटाकर, ही खुदा का नूर बना है। खुदा निःसन्देह जीव या आदम के द्वारा ही प्रकाशित होता है, दीपक जल नही सकता यदि बत्ती न हो, तो भी बत्ती अपने को मिटाकर ही प्रकाश देती है। दीपक प्रकाश का पर्याय

है। यह न समझना चाहिए कि दीपक का मतलब सिर्फ तेल रखने वाला कटोरा या शराव है।

इसी बात को मंसूर की निम्नलिखित पंक्तियों सिद्ध करती हैं जो गान्धी की भजनावलि में संगृहीत हैं:—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा ।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा ॥
••
न हो मुल्ला, न हो बम्मन, दुई की छोड़कर पूजा ।
हुक्म है शाह कलदर का, 'अनलहक' तू कहाता जा ॥

इससे जाहिर है कि जीव और आत्मा के अभेद सबन्ध की ओर ही जीव को प्रेरित करना चाहिए। अनलहक अर्थात् अह ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं, यह खुदी, जीवत्व को नष्ट कर देने पर ही सभव है।

भजनावलि की निम्नलिखित पक्तियाँ तो साफ तौर से कहती हैं कि ईश्वर-प्राप्ति मे जीव का जीवत्व टिक नही सकता—

"तेरी पाक सीरत् का आशिक हुआ जो ।
वही रँग रगा फिर जो तूने रंगाया ॥
है गुमराह, जिस दिल में बाकी खुदी है ।
मिला तुझसे जिसने खुदी को गंवाया ॥

इन पक्तियों से शायद अब यह सशय दूर हो जायगा कि गान्धी के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति में जीव का अस्तित्व रहता है, या जीव और ईश्वर में द्वैत-अद्वैत का सबन्ध है। यदि किसी को कुछ शंका हो तो उसे यह समझना चाहिए कि वस्तुतः उस सबन्ध को समझाने के ये दृष्टान्त हैं। अतः इनके अर्थ की खींचा-तानी न करनी चाहिए। जो सीधा अर्थ यहाँ दिया गया है, वह खीचा-तानी से दूर है और सर्व-मान्य है। गान्धी बार-बार कहते हैं कि हम इस संबन्ध को अपनी

भाषा में व्यक्त करते हैं इसलिए खामी रह ही जाती है। ईश्वर भी इस संबन्ध को अगर हमारी भाषा मे व्यक्त करे तो खामी रह जायगी। इसलिए हमें इस खामी को ध्यान मे रखते हुए जीव और आत्मा के सबन्ध को समझना है। प्रत्येक दृष्टांत का मुख्य अभिप्राय क्या है, यही हमारे लिए ग्राह्य है।

(ग) पृथ्वी की दृष्टि से इस संबन्ध को गान्धी ने यों व्यक्त किया है—"इस अनंत आकाश मे पृथ्वी एक रजकण के समान है और उस रजकण पर हम तो रजकण के भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नही हो सकती। इस प्रकार शरीर-रूप से हम शून्य हैं, यह कहने मे तनिक भी अतिशयोक्ति या अल्पोक्ति नहीं है। हमारे शरीर के साथ तुलना करते हुए चींटी का शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वी के साथ तुलना करने मे हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है (ध० नी० पृ० १६२)।" और "संसार मे जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नही है (वही पृ० १६६)।"

यहाँ जीव को रजकण और आत्मा को अनन्त ब्रह्मांड की उपमा दी गई है। रजकण-रूपी जीव स्वत. शून्य है— यह कहने में जरा-सी भी अतिशयोक्ति नही है।

पृथ्वी का गुण गन्ध माना गया है। इस दृष्टि से जीव और आत्मा के सबंध पर प्रकाश डालने वाली नानक की निम्नलिखित पक्तियॉ आश्रम भजनावलि से ली जा सकती है :—

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसैं निरतर, घट ही खोजो भाई।।

अर्थात्

आत्मा जीव मे वैसे ही निवास करती हे जैसे गन्ध पुष्प में। क्या गन्ध के अभाव में पुष्प सभव है? कदापि नही। कुछ लोग कुछ पुष्पों को गधहीन कहेंगे, पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह मिथ्या है।

सभी पुष्प पार्थिव होने के कारण अवश्य गन्धधर्मा होंगे। फिर यहाँ यह कहा जा सकता है कि आखिर पुष्प का तो अस्तित्व है ही ? इसका उत्तर यह है कि इस दृष्टांन्त का सिर्फ इनना अभिप्राय है कि जीवमात्र में आत्मा व्याप्त है, अतः आत्मा के अभाव न रहने के कारण जीव का जीवत्व संभव है।

(घ) वायु की दृष्टि से आत्मा और जीव का संबन्ध बताते हुए गान्धी ने गीता के निम्नलिखित श्लोक को प्रमाणभूत समझा—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ६।१९

अर्थात्

जीव को आत्मा या परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायु-रहित स्थान में अचल रहने वाले दीपक की-सी कही गई है।

जीव और आत्मा के संबध के प्रसंग में जीव की निश्चलता का अभिप्राय है कि वह बिलकुल जीवत्व खोकर आत्मा में लीन हो गया है।

वायु का गुण स्पर्श है। स्पर्श की दृष्टि से जीव आत्मा को छूते ही आत्मा हो जाता है। प्रमाण के लिए भजनावलि से आनन्दघन की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :—

परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
जिहि विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निकर्म री।

यदि हम संबन्ध में किसी भी प्रकार के स्पर्श या संयोग का विचार करें तो हमें इन पक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए। आत्मा के संबन्ध या संस्पर्श में आते ही जीव जीव नहीं रह सकता, वह आत्मा या ब्रह्म हो जायगा।

(ङ) आकाश की दृष्टि से आत्मा और जीव के सबन्ध पर गीता का निम्नलिखित श्लोक प्रकाश डालता है जो गान्धी को स्वीकार्य है ही—

यथा सर्वगत सौक्ष्मादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३।३२

अर्थात्

'जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सब देह मे रहने वाला आत्मा लिप्त नही होता (गी० मा० पृ० २२६) ।"

यहाँ यह दिखलाया गया है कि जीव में रहने पर भी, जीव का आधार होने पर भी, आत्मा जीव से लिप्त नही होती है। वह जीव से असग है। वस्तुतः दोनों का संस्पर्श या संयोग नहीं होता है। यह इस सबन्ध की बड़ी विशेषता है जो अन्य संबन्ध मे नहीं पायी जाती।

(च) इस सबन्ध पर काल की दृष्टि से प्रकाश डालते हुए गान्धी ने कहा— "हम सब नास्ति है। हम कहें जब हम जिदा रहते है तो नास्ति कैसे हो सकते है ? आज तक तो मैं जिदा रहा, लेकिन कल के लिए मुझे कोई नहीं बता सकता कि रहूंगा या नही। ऐसे ही कल-कल करके ७८ वर्ष निकाल दिए। और भी शायद दो-चार दिन निकाल दूँ लेकिन हम क्या जानें, मैं कैसे कह सकता हूं कि कोई आदमी अभी जिदा है तो वह एक मिनट बाद भी जिंदा रहेगा या नही, कोई नहीं कह सकता। इस लिए मैं कहता हूं कि हम तो नास्ति हैं, जिसका कोई ठिकाना नहीं है। 'अस्ति' वह तो एक ही हो सकता है।··· अस्ति के माने हैं आदि है, अनादि है, और आयदा रहेगा (प्रा० १ पृ० ३२७-२८) ।"

और

'काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नहीं हो जायें' तो हम सब कुछ हो जायँ (ध० नी० पृ० १६६) ।"

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि काल की दृष्टि से भी जीव का कुछ अस्तित्व नहीं है। काल-चक्र के बाहर होने में जीव का अस्तित्व बिलकुल नष्ट हो जायगा, पर वह आत्मा हो जायगा जो वस्तुत सब कुछ होना है।

३—इन वर्णनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आत्मा और जीव केवल आधाराधेय ही नहीं है, वरन् जीव की अपनी कुछ सत्ता नहीं है। उसका प्राणतत्त्व आत्मा का ही देह मे प्रतिबिब जान पड़ता है। एक जगह गान्धी इसका उल्लेख भी करते हैं :—

"इन्सान ऐसा बना है कि अगर वह अपने बनाने वाले को समझ ले कि मैं उसी भगवान् का प्रतिबिम्ब हूं तो दुनिया की कोई ताकत उसके स्वमान को छीन नही सकती (प्रा० २ पृ० २३०)।"

यदि इन्सान या प्राणतत्त्व प्रतिबिम्ब है तो आत्मा बिम्ब हुआ। फिर इन दोनों का संबन्ध बिब-प्रतिबिम्बवाद हुआ। अद्वैत वेदान्त में ही यह सिद्धान्त मिलता है— यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

पर बिब-प्रतिबिबवाद में अनेक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं। यदि प्राण-तत्त्व आत्मा का प्रतिबिब है तो फिर आत्मा का साकार होना अवश्यंभावी है। वह तब निराकार नही हो सकती।

चूँकि गान्धी आत्मा को साकार मानते हुए भी निराकार मानते हैं, अतः वे ब्रिब-प्रतिबिबवाद का समर्थन कर सकते हैं। पर जैसे आत्मा अत्याकार या निराकार है, वैसे हमें उसके अनुसार आत्मा और जीव का सबन्ध भी बैठाना चाहिए। इस दृष्टि से सोचने पर गान्धी का इस प्रसंग मे एक और मत मिलेगा।

४—यह मत निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त है—

"हम तो भगवान् के हाथ के खिलौने हैं। वह हमें अपने इशारे पर नचाता है। इसलिए आदमी ज्यादा-से-ज्यादा यही कर सकता है कि वह इस नाच मे कोई रुकावट न डाले और अपने भगवान् की इच्छा को अच्छी तरह पूरा करे (प० अ० पृ० २३-२४)।"

यहाँ आत्मा को भगवान् कहा गया है। जीव या प्राणतत्त्व आत्मा का खिलौना समझा गया है। जब हम लोग प्राकृतिक उपकरणों से चल खिलौने बना सकते हैं तो आत्मा क्यों नहीं इन्ही उपकरणों से प्राण-तत्त्व को बना सकती है ? अवश्य बना सकती है। प्राण-तत्त्व वस्तुत: आत्मा के क्रीड़ा की सामग्री हैं। आत्मा और जीव के इस संबन्ध को हम 'पुतलीवाद' कहेंगे क्योंकि इस लीला मे जो जीवरूपी उपकरण है, वह स्वतः मिथ्या है या पुतली-मात्र है।

यहाँ कुछ लोग आपत्ति करेंगे कि यदि जीव महज आत्मा का खिलौना है, तो फिर उसका दायित्व कुछ नहीं है, उसको स्वतन्त्रतापूर्वक वरण करने की सामर्थ्य नही है। इसका उत्तर यह है कि सच्ची स्वतन्त्रता सदैव स्वभाव से नियन्त्रित रहती है। वह स्वच्छन्दता नही, किन्तु स्वतन्त्रता या स्वनिर्धारितता है। चूँकि प्रत्येक जीव-रूपी खिलौने में आत्मा है और यही उस जीव का मूल बिब, मूलाधार और मूल मेरुदण्ड है इसलिए उसकी स्वतन्त्रता इसी के निर्धारण मे है। जीव आत्मा के कर्म मे, क्रीड़ा में, योग दे, यही उसकी स्वतन्त्रता है, यही उसका दायित्व है। यही उसकी परमार्थ बुद्धि है।

परमार्थ बुद्धि का ऐसा अर्थ कर लेने से परमार्थ बुद्धि द्वारा निर्धारित कर्म करने में सदैव जीव आत्मा के साथ अपने वास्तविक सबन्ध का अनुभव करेगा।

५--अभी तक हम देह तत्त्व को छोड़े हुए हैं। प्राणतत्त्व को हमने आत्मा का आधेय, आत्मा का प्रतिबिम्ब, और आत्मा की पुतली कहा। इन तीनों सिद्धान्तों में कोई विरोध नही है। यदि प्राणतत्त्व प्रतिबिब है तो निःसन्देह बिम्ब-रूपी आत्मा उसका आधार है और वह उसपर आधेय है। इस तरह आधाराधेयवाद का ही विकसित रूप बिब प्रतिबिबवाद है। फिर यह कोई आवश्यक नहीं है कि आधार अपने को प्रतिबिबित करे। अतः वह अन्यथा अपना कर्म कर सकता है। वह क्रीड़ा कर सकता है, आनद उठा सकता है। इस कर्म के लिए वह देह-

तत्त्व का उपयोग कर सकता है। वह क्रीड़ा में, आनंद में, देह-तत्त्व से जो कुछ बनायेगा, एक प्रकार से वह उसका प्रतिबिंब भी हुआ क्यों कि वह अपनी सोच-समझ के अनुसार ही, अपने रूप या स्वभाव के अनुसार ही बनायेगा। इस प्रकार पुतलीवाद वस्तुतः आधाराधेयवाद और बिंब-प्रतिबिंबवाद को ही समन्वित करके आगे बढ़ता है। पुतलीवाद से वैष्णव दार्शनिकों के लीलावाद का भ्रम न होना चाहिए क्योंकि उनके मत से लीलावाद में जीव पुतली नहीं, मिथ्या नहीं, किन्तु वस्तुतः सत् है, स्वयमेव सत्तावान् है।

यहाँ यही दिखलाया गया है कि जीव और आत्मा में अभेद का संबन्ध होते हुए भी जब तक हम अपने को पृथक् अनुभव कर रहे हैं, तब तक हम इन दोनों आधाराधेयवाद और बिंब-प्रतिबिंबवाद को आत्मसात् करने वाले पुतलीवाद के सबन्ध को मानें। हमारी परमार्थ बुद्धि भी यही कहती है।

पर यद्यपि हम किसी विशेष जीव के व्यक्तित्व में पुतलीवाद का संबन्ध मानते हैं, तथापि सभी जीवों के पारस्परिक संबंध को हम ऐसा नहीं मान सकते।

देहधारी जीवों का पारस्परिक संबन्ध

सभी जीवों में अभेद संबन्ध है। नानात्व मिथ्या है। उन सब में एक ही आत्मा निवास करती है। इस प्रसंग में गान्धी कट्टर अद्वैतवादी हैं और वे आभासवाद को मानते हैं। सभी जीवों के नाना प्राणतत्त्व वस्तुतः आभासमात्र हैं। सही यह है कि उनके देह अनेक तथा विभिन्न हैं, पर उन सब की आत्मा एक ही है। देह-दृष्टि से वे नाना हैं। पर आत्मा की दृष्टि से, प्राणतत्त्व की दृष्टि से, परमार्थ-बुद्धि की दृष्टि से वे सब एक हैं। उनमें से प्रत्येक की आत्मा एक और अद्वैत आत्मा है। उन सभी का प्राणतत्त्व इसी आत्मा की पुतली है। उन सभी की परमार्थ-बुद्धि प्राणतत्त्व को सशरीर आत्मा की ओर उन्मुख करने में लगी है।

गान्धी जब छुआछूत के निराकरण का, भूतदया का, प्राणमात्र के प्रति अद्वैतभावना का और सब के प्रति समानता का, पाठ पढ़ाते हैं तो वे इस अद्वैतवाद को अपना परम सिद्धान्त मान लेते हैं और अपने को कट्टर अद्वैती कहने में गर्व करते हैं।

(क) 'मैं अद्वैत के बुनियादी सिद्धान्त में विश्वास करता हूं और अद्वैत की मेरी व्याख्या उच्चता के किसी भी अर्थ को पूर्णतया बहिष्कार करती है। मेरा अटल विश्वास है कि सभी मनुष्य जन्मना समान हैं। सभी मे वे चाहे भारत मे पैदा हों या अमरीका में या इंग्लैण्ड में या चाहे किन्हीं परिस्थितियों में पैदा हों, वही एक आत्मा रहती है (हि० ध० पृ० ३६०)।'

यहां गान्धी ने एकात्मवाद या आत्माद्वैतवाद का समर्थन कट्टर अद्वैतवादियों से भी बढ़कर किया क्योंकि कट्टर अद्वैतवादी अधिकारि-भेद मानते हुए शूद्रों को वेद-वेदांत पढ़ने से वर्जित करते हैं। गान्धी अधिकारि-भेद मानते है, पर वे शूद्रों को वेद पढ़ने से मना नहीं करते। वे ऊँच-नीच की भावना को अद्वैत की विरोधिनी ठीक ही कहते हैं। वे कहते हैं "सब की आत्मा एक ही है। सब की आत्मा की शक्ति भी समान है। अन्तर इतना ही है कि कुछ की शक्ति प्रकट हो चुकी है, दूसरों की शक्ति का प्रकट होना अभी बाकी है। प्रयत्न करने से उन्हें भी वही अनुभव होगा (अ० रा० पृ० ५६)।"

कहना नहीं होगा कि शंकराचार्य जैसे प्रचण्ड अद्वैती के होते हुए भी देश में अद्वैतवाद के अन्दर अपशूद्राधिकरण और ऊँच नीच की भावना फैली थी। गान्धी ने इसको भी दूर कर अद्वैतवाद में शंकराचार्य के महासेनानी का कार्य किया है। सिद्धान्ततः जो कार्य शंकराचार्य ने किया था, व्यवहारतः उसी कार्य को गान्धी ने किया और दिखला दिया कि सामूहिक रूप से अभ्यास करने पर भी शंकराचार्य का अद्वैतवाद उपयुक्त है। शंकराचार्य अपने सिद्धान्त को व्यवहार में अच्छी तरह से उतार नही पाये थे। शंकराचार्य का सिद्धान्त और

गान्धी का व्यवहार दोनों एक ही अद्वैत-वाद-रूपी पैसे की दो पीठें हैं जिन पर भारत के भावी समाज को खड़ा होना है।

(ख) फिर गान्धी कई स्थलों पर कहते हैं कि मेरा विश्वास है कि सब का प्राणतत्त्व या जीवन एक है (हि० ध० पृ० ७१३)।

इस प्रकार जीवमात्र में केवल आत्माद्वैत ही नहीं वरन् प्राणतत्त्वाद्वैत मानकर गान्धी ने सिद्ध कर दिया कि उनका मत शांकर अद्वैतवाद ही हो सकता है क्योंकि अन्य किसी वेदान्त या दर्शन में आत्मा और जीवन के अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त नहीं मिलता है। अन्य मत के सभी दार्शनिकों के अनुसार जीवों में जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनके जीवन-तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं।

कहना नहीं होगा कि गान्धी का सिद्धान्त तात्त्विक दृष्टि से आत्माद्वैतवाद और एकजीववाद है। अद्वैत वेदांत की यही पारिभाषिक पदावली है। इतना ही नहीं आत्मा और जीव का संबन्ध भी, 'पुतलीवाद' भी अद्वैत वेदांत का ही अद्यतन विकसा हुआ सिद्धान्त है।

अभी तक हमने जो कुछ समझा है उसके अनुसार हम गान्धी के आत्मा और देह विषयक संबध पर कुछ नहीं जान पाये हैं। और न यही जान पाये हैं कि देह क्या है ? अब हम इसका निरूपण करेंगे।



अध्याय ८

देह तत्त्व और जगत्

देह का स्वरूप

देह जीवतत्त्व का अनिवार्य सहचर है। देह में ही आत्मा के प्रतिबिब के रूप में जीव रहता है, अथवा देह द्वारा ही आत्मा खेल खेल रही है और उसकी खेल की अवस्था का नाम जीवतत्त्व है। देखना है कि यह देह किससे बनी है।

१— प्राकृतिक चिकित्सा के पक्के समर्थक के रूप में गान्धी देह को पॉच महाभूतों से बनी हुई बताते है और कहते हैं कि इसका स्वास्थ्य इन्ही पॉच महाभूतों के स्वच्छ उपयोग पर निर्भर है (द्र० रामनाम पृ० २८)।

कबीरदास की निम्नलिखित पक्तियॉ जिनको गान्धी बहुधा कहा करते थे देह के स्वरूप और घटक का अच्छा वर्णन करती हैं—

झीनी झीनी बिनी चदरिया।
काहे कै ताना कहे कै भरनी
कौन तार से बिनी चदरिया॥
इगला पिगला ताना भरनी
सुषमन तार से बिनी चदरिया।

आठ कँवल दल चरखा डोले
पाँच तत्व गुन तिनी चदरिया ॥
साईं को सीयत मास दस लागे,
ठोक ठोक के बिनी चदरिया ॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओटी कै मैली कीनी चदरिया ॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ।

(द्र० भजनावलि)

यहाँ चादर या चदरिया का मतलब देह है। इंगला-पिंगला और सुषुम्ना इसमें नाड़ियाँ हैं। इसके अन्दर आठ चक्र हैं जिन्हें योगी ही जान सकते हैं। यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और अकाश इन पाँच महाभूतों और सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से बनी है। परमात्मा ने इसे लगभग दस मास में—गर्भ के दस मास में—ठोक ठोक कर बिना है। सुर, नर, मुनि, आदि सभी इस देह को पाते हैं। कबीर को भी यह देह मिली। अन्य लोग इस देह को लेकर इसके घटकों, तत्त्वों को गन्दा कर डालते, नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। कबीरदास ने इसे स्वच्छ और सुरक्षित रखा। उन्होंने इसको न गन्दी किया और न नष्ट किया।

अभिप्राय यह है कि देह के घटक नित्य हैं। महादेव देसाई ने देह के इन घटकों को समन्वित रूप देने के लिए सांख्य के प्रकृति-परिणाम को स्वीकार किया है और इससे उनका अभिप्राय है कि यह मत गान्धी की विचार-धारा के अनुकूल है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रज और तम की वह साम्यावस्था है। आत्मा या परमात्मा के साहचर्य के कारण उसमें गति आती है। गति से उसका विकास होता है। पहले उससे महत्-तत्त्व या बुद्धि निकलती है। बुद्धि से अहंकार निकलता है। अहंकार से मन, इन्द्रियाँ

(ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) और पांच तन्मात्राएँ निकलती हैं। पाँच तन्मात्रायें हैं शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी विकसित होते हैं। फिर इन्हीं पच महाभूतों से समस्त संसार विकसित होता है। चेतन पदार्थों में मन और इन्द्रियाँ रहती हैं। अचेतन में केवल महाभूत रहते हैं।

इस दृष्टि से देह प्रकृति का विकास है। यह प्रकृति जड़ पदार्थ है। महत्, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों में जो चेतनता रहती है वह प्रकृति के कारण नही, वरन् परमात्मा या आत्मा के कारण रहती है क्योंकि वही प्रकृति के साथ सदा सलग्न है। अतः प्रकृति को ही हम देह का आदि रूप कहेंगे। देह का धर्म है जन्म लेना, रहना, बढ़ना, परिवर्तन करना, घटना और नष्ट होना। इसी को यास्क ने कहा—

देहो जायते, अस्ति, वधते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति।

यहाँ देह के रूप का ही जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश समझना चाहिए। देह के घटकभूत तत्त्वों का नाश नहीं होता है। देह के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश के अंश अपने-अपने भूतों में जाकर मिल जाते हैं, जब कि देह के रूप का नाश होता है। इसको हम विघटन या लय कहते हैं। जब देह का जन्म होता है तो भूतों के कणों का सघटन देह-रूप में हो जाता है। इस संघटन का फिर परिवर्तन-परिवर्धन और अपक्षय तथा नाश होता रहता है।

देह के जन्म का अर्थ है पंच महाभूतों के कणों का आनुपातिक ढंग से सघटन। देह की मृत्यु का अर्थ है इस संघटित रूप का विघटन।

२— शरीर-विज्ञान इस युग में अत्यन्त विकसित हो गया है। उसकी दृष्टि से शरीर जीव-कोषों या शुक्र-कोषों से बनता है। पुरुष के शरीर की संघटना पर प्रकाश डालते हुए गान्धी ने कहा—

"शुक्र-कोषों का केन्द्रीय भंडार प्राण का आदिम और मूलभूत अधिष्ठान है। भ्रूण या गर्भ आरभ से ही, माता की देह में बनने वाले

रसों से पुष्ट होकर, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। शुक्र-कोषों का पोषण ही यहाँ भी जीवन का नियम दिखाई देता है। गर्भ के शुक्र-कोषों की सख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है और उनमें कुछ भिन्नता पैदा होने लगती है, वे आवश्यकतानुसार नये रूप और नये कार्य ग्रहण करने लगते हैं। स्थूल अर्थ मे जन्म-ग्रहण, माँ के पेट से बाहर आने से इस क्रिया में थोड़ा ही अन्तर पड़ता है, पहले शुक्र-कोष पोषण की सामग्री नाल के द्वारा मिलती थी, अब होठों और मुँह के रास्ते मिलती है। कोषों की वृद्धि अब तेजी से होती है और सारे शरीर में जहाँ कहीं निकम्मे तन्तुओं की जगह नए तन्तु बनाने की आवश्यकता होती है, वहाँ पहुँच जाते है। रक्तवाहिनी नाड़ियाँ इन कोषों को अपने आदि अधिष्ठान से लेकर देह के हर हिस्से मे पहुँचती हैं। बड़े-बड़े समूहों मे वे खास-खास काम अपने जिम्मे लेते हैं और देह के भिन्न-भिन्न अगों का निर्माण और मरम्मत करते हैं। जिस कोष-समुदाय की वे व्यष्टि हैं वह जीता रहे इसके लिए वे हजार बार मौत को गले लगाते हैं। ये सारे 'मुर्दे' शरीर की ऊपरी सतह पर आ जाते है और खासकर हड्डियों, दांतों, खाल और बालों में कड़ाई पैदा करके सारे शरीर का बल बढ़ाते और उसकी रक्षा करते हैं। उनकी मृत्यु देह के उच्चतर जीवन और उस पर आश्रित सारी बातों का मूल्य है। वे आहार-ग्रहण, नए कोषों का उत्पादन, विभाजन, भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटकर भिन्न-भिन्न कार्यों का संपादन, और यह सब करके अंत में मर जाना बद कर दें तो शरीर जी नही सकता (अ० रा० पृ० १५२-१५३)।"

बीज कोषों या शुक्र कोषों से दो तरह के जीवन की प्राप्ति होती है— १— आन्तरिक या पुनर्जननरूप और बाह्य या जननरूप। इन दोनों का विवरण प्राणतत्त्व के प्रसग मे कर दिया गया है।

उपर्युक्त सांख्य विकासवाद और शरीर-विज्ञान के देह-रचना के सिद्धान्त से देह की मृत्यु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मृत्यु का विचार

१— "विज्ञान की दृष्टि से मृत्यु जीवन के अन्त में घटित होने वाली घटना नहीं है, बल्कि एक क्रिया है जो जीवन के साथ ही आरंभ होती और प्रतिक्षण उनके साथ-साथ चलती रहती है। शरीर की छीज की पूर्ति अथवा पोषण और उसका क्षय जीवन और मरण की शक्तियाँ हैं जो एक-दूसरे के कदम-ब-कदम चला करती हैं। बचपन और चढ़ती जवानी के दिनों मे जीवन की क्रिया दौड़ मे आगे रहती है। प्रौढ़ावस्था में दोनों कदम-ब-कदम चलती है; पर जब उम्र ढलने लगती है तो मृत्यु की क्रिया आगे निकल जाती है और अन्त में निधन के क्षण में जीवन की शक्ति को पक्के तौर से पछाड़ देती है। इस जय-लाभ मे सहायक होने वाली हर बात, जो उस घड़ी को एक दिन, एक बरस या एक दशक आगे खीच लाती है, मृत्यु की क्रिया है (वही पृ० १५७-१५८)।"

इस तरह सिद्ध है कि स्वाभाविक मृत्यु जीवन की कोई अलग, असंबद्ध घटना नही है, बल्कि एक निरन्तर चलती रहने वाली क्रिया है। इसी तथ्य को गीता का निम्नलिखित श्लोक प्रतिपादित करता है—

अथ चैन नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्व महाबाहो नैव शोचितुमर्हसि॥ (२।२६)

अर्थात्

जो तू इसे नित्य जन्मने और मरने वाला माने, तो भी, हे महाबाहो, तुझे शोक करना उचित नहीं है।

देह नित्य मृत्युधर्मा है। उसकी मृत्यु पर तनिक भी शोक करना अज्ञता है।

२— "आदि जीव (प्रोटोज़ोआन) का शरीर केवल एक कोष का होता है, और अपना वश वह अपने शरीर के टुकडे करके बढ़ाता है।

इससे इस प्रकार के जीवों में मृत्यु कोई स्वाभाविक और साधारण घटना नहीं है (लैंकेस्टर उद्धृत वही पृ० १५५) ।"

इससे गान्धी यह निष्कर्ष निकालते जान पड़ते हैं कि प्राणतत्त्व अविनाशी है। यह भारतीय दर्शन का सिद्धान्त भी रहा है।

इसी मत को बीसमान के ये शब्द पुष्ट करते हैं : –

"स्वाभाविक मृत्यु केवल बहुकोषी जीवों में ही होती है, एक कोष वाले जीव उससे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी वैसा अन्त नहीं होता जिसकी तुलना मृत्यु से की जा सके, और यह भी जरूरी नही कि नये प्राणी के पैदा होने के लिए पुराने को मरना पड़े। विभाजन मे दोनों अश समान होते है, न कोई बूढ़ा होता है न कोई जवान। इस प्रकार व्यष्टि-जीवों की अनन्त श्रेणी चलती रहती है, जिसमे हर एक की वय उतनी ही होती है जितनी जाति की। हर एक मे अनन्त काल तक जीते रहने की सामर्थ्य होती है, उसके टुकड़े सदा होते रहते हैं, पर मरता कभी नहीं (वही पृ० १५५) ।"

३— मृत्यु देह-धारण का मूल्य है। गान्धी इस विषय पर पैट्रिक गेडेस के शब्द उद्धृत करते हैं—

"हम कह सकते हैं कि मृत्यु देह-धारण का मूल्य है। वह कीमत हमें कभी-न-कभी चुकानी ही पड़ती है, देह से हमारा मतलब कोषों के उस जटिल सधान से है, जिसमे थोड़ा-बहुत अंग-भेद और कार्य-भेद विद्यमान हो (वही पृ० १५५) ।"

लैंकेस्टर के शब्दों में "जनन का दण्ड मरण है। बहुतेरी जीव-योनियों मे यह बात बिलकुल स्पष्ट है। वश-रक्षा का उपाय करने में उनमें नर या मादा मे से एक को अक्सर जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पादन के बाद जीते रहना प्राण की विजय है, जो सदा नहीं होती। कुछ जीव-जातियों मे तो कभी नही होती। गेटे ने मृत्यु पर लिखे हुए अपने निबध मे भली-भाँति दिखाया है कि जनन और मरण मे कितना निकट का और अनिवार्य संबन्ध है। ये दोनों क्रियायें

क्षय क्रिया की वे मंजिलें कही जा सकती हैं जब स्थिति कोई पक्की करवट लेती है (वही पृ० १५६)।"

पैट्रिक गेडेस इसी को और स्पष्ट करते हैं :—"सन्तानोत्पादन और मृत्यु का संबन्ध निःसदेह स्पष्ट है। पर आम बोल-चाल में इस लगाव को गलत रूप दे दिया जाता है। हम लोगों को यह कहते सुनते हैं कि प्राणी की मृत्यु अटल है इसलिए उसे बच्चे पैदा करने ही होंगे, नहीं तो जाति का नाश हो जायगा। पर पीछे के उपयोग की यह दलील आमतौर से हमारे दिमाग की बाद में होने वाली उपज होती है। इतिहास हमें बताता है कि प्राणी इसलिए बच्चे नहीं पैदा करता कि उसे एक दिन मरना है, बल्कि वह बच्चे पैदा करता है इसलिए मरता है (वही प० १५६)।"

४— गेडेस के अनुसार "ऊँची श्रेणी के जीवों में वंश-वृद्धि के लिए होने वाला बलिदान बहुत कम हो गया है, फिर भी काम-वासना की तृप्ति के फलरूप में मौत होने का खतरा मनुष्य के लिए रहता ही है" (वही पृ० १५६)।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना ही मृत्यु से बचना या मृत्यु को कम से कम दूर रखना है यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। हमारे यहाँ भी इसीलिए कहा गया है कि मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात् अर्थात् वीर्यनाश मरण है और वीर्यलाभ जीवन है।

मृत्युसबन्धी इस अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि मृत्यु जीवन का युगपद् साथी है। देह नित्य मृत्युधर्मा है।

यही बात मूल प्रकृति या मूलभूत प्राकृतिक पदार्थ के विषय में भी कही जा सकती है। वह नित्यजन्मा, नित्यमरण, है। इसी को दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि वह विपरिणामी या परिवर्तनशील है। मरने के बाद भी शरीर की पुनः प्राप्ति होती है। गान्धी पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को मानते हैं "मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व का है उतना ही दूसरी देह मिलने का भी है" (वही पृ० ५६)।

देह के प्रकार

अभी तक हमने स्थूल देह का निरूपण किया। इस देह के अनन्तर सूक्ष्म देह या लिंग शरीर है। गान्धी इसको भी मानते हैं। सूक्ष्म देह स्वप्न के जीव की देह है। यह मनोवैज्ञानिक भावनाओं और संस्कारों की काया है। देहपात और पुनर्जन्म के बीच की अवस्था में भी जीव का यही शरीर रहता है।

"जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थल से गधों को साथ लिये चलता है, यह जीव भी इन्द्रियों को साथ लिए हुए बिचरता है। कान, आंख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनों का सहारा लेकर जीव विषयों का सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुये गुणों वाले इस जीव को मोह मे पड़े अज्ञानी पहचानते नही, ज्ञानी पहचानते हैं (गी० मा० पृ० ८४)।"

यह सूक्ष्म शरीर भी नित्यजन्मा-नित्यमरण के क्रम में बधा है। यह भी सदा विपरिणामी है।

स्थूल देह और सूक्ष्म देह से भिन्न एक तीसरे प्रकार का देह होता है जिसे कारण-शरीर कहा जाता है। स्थूल देह और सूक्ष्म देह के नष्ट हो जाने पर भी यह बना रहता है। इसे अविद्यामय शरीर कहते हैं। यह स्थूल देह और सूक्ष्म देह का आदि स्रोत और आधार है। सुषुप्ति में सब जीवों का यही शरीर रहता है। जब तक यह शरीर बना रहता है तब तक जन्म-मरण के आवागमन का चक्र बना रहता है। इस देह के नष्ट होने के अनन्तर ही देही जीव का ब्रह्मभाव सम्यक् रूप से होता है।

यह अविद्यामय शरीर वस्तुत. मूलभूत प्राकृतिक पदार्थ या प्रकृति का रूप है। इसके नाश से प्रकृति का नाश हो जाता है। देखना यह है कि क्या गान्धी शांकर अद्वैतियों की भाँति इस अविद्यारूप प्रकृति को मानते

हैं कि नहीं ? यदि हम इसे अविद्या न कहना चाहें, तो इसे हम केवल प्रकृतिमय देह कह सकते हैं।

यहाँ हम देह के मूल स्रोत पर आते हैं। अब हम एक ओर आत्मा और दूसरी ओर प्रकृति या जिसे अब हम देह कहेंगे, वह है। आत्मा और प्रकृति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। जीवतत्त्व और आत्मा में हम अभेद दिखला चुके हैं, अतः उसको इस प्रसंग में लाने की जरूरत नही है। इस प्रकृति को ही जगत्, संसार या दुनिया कहा जाता है। आत्मा नित्य एकरूप है तो प्रकृति नित्य नूतन रूप धारण करती रहती है।

आत्मा और प्रकृति के संबन्ध को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम प्रकृति या ससार या जगत् के रूप को समझना चाहिए।

प्रकृति या जगत्

प्रकृति या जगत् को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। दोनों दृष्टियों में इसकी तुलना अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष से की जाती है। अश्वत्थ का मतलब है वह जो कल तक टिकने वाला न हो, अर्थात् अनित्य हो, फिर भी सत् हो। प्रकृति या जगत् अनित्य है क्योंकि वह कल तक टिका रहेगा, यह नही क ा जा सकता।

१— पहली दृष्टि में जगत् को ऐसा अश्वत्थ वृक्ष माना जाता है जिसकी डालियाँ नीचे-ऊपर फैली हुयी हैं और जिसकी जड़ें नीचे मनुष्य-लोक में हैं (द्र० अनासक्तियोग या गीता अध्याय १५)।

यहाँ वृक्ष की डालियों का मतलब जगत् या प्रकृति की वस्तुओं, विषयों से है। जो लोग समझते हैं कि प्रकृति या जगत् की जड़ मनुष्य की इन्द्रियजन्य सविक्तियाँ और उसके कर्म हैं, विषय वासनाएँ हैं, वे ही जगत् को ऐसा समझते हैं।

गान्धी की दृष्टि मे ' यह संसार वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टि वाला वर्णन है"। यह बिलकुल मिथ्या है, भ्रम है।

यह आत्मा में भ्रम मात्र है। इसका ही वर्णन शंकराचार्य की निम्न-लिखित पंक्तियाँ करती हैं जो गान्धी की प्रातःकालीन प्रार्थना में संगृहीत हैं—

यस्मिन्निद जगदशेषमशेषमूर्तौ ।
रज्वा भुजगम इव प्रतिभासित वै ॥

अर्थात्

संपूर्ण आत्मा में यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार प्रतिभासित होता है जैसे कि रस्सी में सांप।

यहाँ गान्धी प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्ट समर्थन करते हैं।

(२) दूसरी दृष्टि में जगत् की तुलना उस अश्वत्थ वृक्ष से की जाती है जिसकी शाखा नीचे है और जिसका मूल ऊँचे है, जिसके पत्ते ज्ञान हैं (द्र० गीता १५ वां अध्याय)।

गान्धी इस पर टिप्पणी करते हैं कि "संसार का प्रतिक्षण रूपान्तर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है, परन्तु ऐसी स्थिति में वह सदा रहने वाला होने के कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नही दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जानने वाला है वह ज्ञानी है (गी० मा० पृ० २३४-२३५)।"

इस दृष्टि मे ससार प्रतिभास नहीं है। वह सत् है। उसकी सत्ता व्यावहारिक है। व्यावहारिक सत्ता का अस्तित्व परमार्थतः भी कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। इसी को गान्धी माया कहते हैं। वे माया का अर्थ प्रतिभास या भ्रम नहीं लेते। माया का अर्थ है, उनके मत से, 'सनातन-प्रवृत्ति' (द्र० वही पृ० २३५)। विन्सेंट शीअन ने लिखा है कि उनके साथ जब इस प्रसग में गान्धी ने वार्तालाप किया, तो गान्धी ने माया शब्द का रूपान्तर भ्रम (illusion) नहीं होने दिया। इन

दोनों ने फिर बड़े वाद-विवाद के अनन्तर निश्चय किया कि माया का रूपान्तर आभास (Appearance) है जिसे हमें फेनामेनन (Phenomenon) के अर्थ मे समझना चाहिए। भारतीय दर्शन मे इसके लिए शब्द है व्यावहारिक सत् (द्र० रा० पृ० ४४८)। इसी की पारिभाषिकी सञ्ज्ञा माया है जो शंकराचार्य के अनुसार भी अनादि और अनन्त है।

गान्धी भी इसको अनादि और अनन्त मानते है। एक बार उनकी प्रार्थना मे कबीर का 'इस तन धन की कौन बड़ाई' यह भजन गाया गया। इसमे एक पंक्ति है— आप मुए पीछे डूब गई दुनिया— अर्थात् अपने मरने पर दुनिया डूब जाती है। इस पक्ति का इतराज करते हुए गान्धी ने कहा, "मुझे तो यह बहुत चुभता है। ऐसा मानने में कुछ स्वार्थ काम करता है, यह मेरी छोटी बुद्धि मुझे बताती है। इसको भजनमाला मे से निकाल देना चाहिए। हमारे मरने के बाद दुनिया कैसे डूबने वाली है? पहले तो यह कि हम मरते ह। नही, क्योंकि आत्मा अमर है। फिर दुनिया का मरना ही क्या, वह तो हमेशा बदलती रहती है। उसको तो परमात्मा ने एक खेल बना रखा है (प्रा० १ पृ० २५१-२५२)"।

यहाँ स्पष्ट है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है। पर इसके साथ ही वह परमात्मा का खेल है अर्थात् उसके आधीन, उसी के लिए, उसी द्वारा निर्मित है। इसी को हम माया कहते हैं। स्पष्ट करने में हम इसी को लीला कहते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में मायावाद और लीलावाद में भेद है। उनका कहना ठीक है कि मायावाद में परम सत् एकमात्र परमात्मा है जबकि लीलावाद मे उस परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति भी सत् है जिसके साथ वह खेल कर रहा है। यही दोनों वादों का अन्तर है यद्यपि दोनों को यह मान्य है कि प्रकृति का आधार, स्रोत और लक्ष्य परमात्मा है।

देखना है कि गान्धी मायावाद और लीलावाद के विवाद से अपनी स्वतन्त्र दृष्टि कैसे निकालते हैं।

मायावाद्

मायावाद् परमात्मा और जगत् के संबन्ध को अन्वय तथा व्यतिरेक दो दृष्टियों से व्यक्त करता है।

अन्वय-दृष्टि से सकल जगत् परमात्मा है— सर्व खल्विद ब्रह्म। गान्धी ने इसका समर्थन ईशावास्योपनिषद् के मत्र से किया कि संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वर या परमात्मा से ओत-प्रोत है। ईशावास्यमिद सर्वं यत्किच जगत्यां जगत्। अत परमात्मा से भिन्न, उसकी नकल में, उसका द्वितीय, कोई नही है। वह एक और अद्वितीय है। यही जगत् यदि समझ लिया जाय तो ब्रह्म है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ऊपर दिया हुआ जगत् और उसका ऊर्ध्व मूल ईश्वर महज एकांगी उपमा है। जगत् का मूल ही परमात्मा नहीं है, वरन् जगत् स्वयमेव परमात्मा है। जगत् और ब्रह्म में तनिक भी भेद नहीं है। यदि उस वृक्ष की उपमा लें तो जगत् की शाखाएँ वगैरह भी ब्रह्म से व्याप्त हैं।

व्यतिरेक-दृष्टि से परमात्मा और जगत् का संबन्ध 'नेति-नेति' द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसको भी गान्धी प्रायः कहा करते हैं। अतः उन्हें यह मान्य है। इसका तात्पर्य यह कि परमात्मा जगत् से अतीत है। वह जगत् के बिना भी रह सकता है, यद्यपि जगत् किसी भी अर्थ में उसके बिना रह नहीं सकता है।

लोग व्यतिरेक-दृष्टि को अधिक महत्त्व देते हैं और उसका अर्थ यह निकालते हैं कि परमात्मा जगत् के बिना रहता है और जगत् का कुछ भी अस्तित्व मायावाद मे नहीं है। यह भ्रान्त धारणा है। यदि जगत् का अस्तित्व न होता तो व्यतिरेक किससे होता ? पर जगत् की स्थिति होते हुए भी परमात्मा जगत् के बिना रह सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि वह जगत् के बिना रहता है। 'रह सकता है' और 'रहता है' मे महान् अन्तर है। इस अन्तर को, इस खाई को हम तभी

पार कर सकते हैं जब हम वस्तुत. जगत् का अतिक्रमण कर दें। यह सभावना आदर्श है। इसका तार्किक, नैतिक और मूल्यवैज्ञानिक महत्त्व है। गान्धी जब कहते हैं कि वे अभेद को आदर्श मानते हैं और भेद को यथार्थ, तो वे वस्तुतः अभेद को इसी अर्थ मे लेते हैं। इसी अभेद से उन्हें कार्य में, व्यवहार मे, साधना मे और ज्ञान मे प्रेरणा मिलती है।

इस अभेद की संभावना का यदि विधायक नही तो निषेधक महत्त्व निर्विवाद है। हम इससे अपने ज्ञान, कर्म, भावना की तुलना करके उनकी सच्चाई-कच्चाई नाप सकते हैं।

पर क्या यह संभावना मात्र है? अथवा कभी यथार्थ भी है? यहाँ यही कहना होगा कि यह यथार्थ है पर इसका वर्णन लौकिक भाषा द्वारा नही हो सकता क्योंकि इसमें लोक नही रह जाता और वह ब्रह्म हो जाता है। यदि ब्रह्म इस अभेद का अपनी भाषा में वर्णन करे तो शायद वह संभव है। पर इसका वर्णन हम मनुष्यो के बूते का नही है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।

मनुष्य अनिर्वचनीय का गलत अर्थ लगा लेता है कि यह ज्ञानगम्य नहीं है। वह नहीं जानता कि प्रत्येक चीज की परिभाषा का मूलाधार जिस अर्थ में अनिर्वचनीय है उसी अर्थ में हमें जगत् और परमात्मा के अभेद की अनिर्वचनीयता को समझना चाहिए। फलतः वह सोचने लगता है कि परमात्मा के बाहर नहीं तो परमात्मा के अन्दर ही कोई न कोई सत् परमात्मा से भिन्न होना चाहिए जिससे वह खेल-कूद कर अपने में जगत् को उत्पन्न करे। 'खेल-कूद कर' कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि पूर्ण, नित्यतृप्त आत्मा की अन्य कोई इच्छा ही नहीं है जिससे वह सृष्टि करता और दूसरे शायद सभी सच्ची कृतियाँ खेल या लीला से ही शुरू होती हैं। इस भावना ने मनुष्य को माया-वाद से हटाकर लीलावाद के किनारे ला दिया।

लीलावाद

लीलावाद के अनुसार परमात्मा में स्वगत भेद है यद्यपि वह सजातीय और विजातीय भेदों से मुक्त है। अपने स्वगत घटकों से जो उसमें होते हुए भी उसकी सत्ता से भिन्न हैं, वह आनंद लेता है, उनपर अपनी प्रभुता रखता है और उनसे स्वान्त सुखाय सृष्टि करता है।

गान्धी ने कहा कि "मैं अद्वैती हूं और फिर भी द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हूं। संसार प्रतिक्षण बदल रहा है और इसलिए असत् है। इसकी सत्ता नित्य, स्थायी नहीं है। किन्तु यद्यपि यह निरन्तर बदल रहा है उसकी अपनी कुछ सत्ता है जो अव्यभिचारी है और इसलिए इस हद तक यह सत् है। इसलिए मुझे इसको सत् और असत् कहने मे आपत्ति नहीं है और न आपत्ति अपने को अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहलाने में है। किन्तु मेरा स्याद्‌वाद विद्वानों का स्याद्वाद नहीं है, यह मेरा अपना अनोखा है (हि० ध० पृ० ६२)।"

यहाँ गान्धी वस्तुत लीलावाद का समर्थन कर रहे हैं। वे इस मत को अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद कहते हैं। पर चूँकि ये जैनियों के अपने विशिष्ट सिद्धान्त है अत' इनके विशिष्ट अर्थों में गान्धी इनका प्रयोग नही करते। वे इनको अपने अर्थ में प्रयुक्त करते हैं यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद से उनको अपना विशिष्ट अर्थ निकालने में सहायता मिलती है। हम इस विशिष्ट अर्थ को लीलावाद कहेंगे।

उन्होंने स्पष्ट कहा—

"संसार ईश्वर का लीला-स्थल है, उसकी महिमा का प्रतिबिंब है (आ० पृ० २५५)।"

अब प्रश्न उठ सकता है कि गान्धी मायावाद को मानते थे या लीलावाद को ? उन्होंने दोनों की अभिव्यक्ति की है। अतः किन्हीं अर्थो मे वे दोनों को मानते हैं। दोनों को मानकर वे इनका समन्वय करते है। इस समन्वित वाद को हम योगमायावाद कहेंगे।

योगमायावाद

मायावाद और लीलावाद का समन्वय करते हुए गान्धी ने कहा—"परमात्मा सबसे बड़ा जगत्-विदित प्रजातन्त्रवादी है क्योंकि वह हमें भलाई और बुराई में अपनी पसंद करने के लिए बन्धन-रहित या मुक्त किए हुए है। वह सबसे बड़ा जगत्-प्रसिद्ध निरंकुश शासक भी है क्योंकि वह हमारी आशाओं पर पानी फेर देता है और स्वतन्त्रेच्छा की आड़ में बहुत ही अपर्याप्त अवसर हमको केवल इसलिए देता है कि हम अपनी हानि करके उसको आनन्द दें। इसी कारण हिन्दूधर्म इस (जगत) को उसकी लीला कहता है या इस सबको माया कहता है। हम नहीं हैं, वही अकेला है। और यदि हम हों, हमें नित्य उसका स्तवन गाना है और उसकी इच्छा बजाना है। हमें उसकी बाँसुरी की आवाज पर नाचने दो और सब कुछ अच्छा होगा (हि० ध० पृ० ६२)।"

यहाँ जीव और जगत् को 'नहीं' कहा गया और परमात्मा को 'है' कहा गया है। इस दृष्टि में मायावाद है। फिर जीव और जगत को यदि 'है' कहा गया तो महज वह परमात्मा की लीला के उपकरण के अर्थ में माना गया। इस दृष्टि मे लीलावाद है। यदि जीव-जगत् को सत् मानना हो तो फिर उसे लीला का उपकरण ही क्यों कहा जाय? उनको परमात्मा से बिलकुल भिन्न क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर गान्धी निरीश्वरवादी या जड़वादी की तरह नहीं देते। वे अपने को अद्वैती बनाए रखना चाहते हैं। इसलिए वे मायावाद से मिलती-जुलती लीला का समर्थन करते हैं। लीला के खिलौनों के रूप में ही जीव और जगत् को मानने का अभिप्राय यह है कि वे वस्तुतः सत् नहीं है। खिलवाड़ और खिलौने मिथ्या के अर्थ में आते हैं, यह दिखलाने के लिए कि ये स्वत तुच्छ हैं, सत्ताहीन हैं। अतः लीलावाद वस्तुतः मायावाद के ही अनुकूल है। यदि मायावाद उसका नियामक न होतो फिर लीला क्यों मानी जाय, फिर तो वास्तविक उत्पत्ति या

विकास ही न माना जाय जैसे कि सांख्य मे प्रकृति का विकास होता है अथवा आधुनिक विज्ञान के अनुसार जगत् का विकास होता है। अतः गान्धी के मन में यह स्पष्ट धारणा बिलकुल सही जमी हुई है कि मायावाद और लीलावाद में कोई विरोध नही है।

कुछ लोग कहेंगे कि लीलावाद के अनुसार खिलौना-रूप से ही सही, पर किसी-न-किसी रूप से जगत् परमात्मा के अन्दर है तो। वह उसमें स्वगत भेद करता तो है। इससे क्या लीलावाद का मायावाद से भेद नहीं स्पष्ट हो जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर गान्धी गीता के निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्। ७।२५

अर्थात्

परमात्मा का कथन है— अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा और अव्यय को भली-भाँति नही पहचानता।

इस पर गान्धी टिप्पणी करते हैं कि "इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होते हुँए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है (गी० मा० पृ० १८१)।"

यहाँ स्पष्ट है कि योगमाया के कारण जगत् के लोग परमात्मा को नहीं जान सकते हैं, अतः वे जगत् का संबन्ध कैसे उससे बैठा सकते हैं ? माया और लीला—दोनों द्वारा जगत् का परमात्मा से संबन्ध बैठाना वस्तुतः अनिर्वचनीय है। अत. हम दोनो का समन्वय इसी योगमायावाद में करते हैं। मायावाद और लीलावाद दोनों योगमाया-वाद हैं, ब्रह्मवाद नहीं हैं। ब्रह्मवाद कुछ दूसरा ही है। हमें जगत् और ब्रह्म के संबंध के विषय में माथापच्ची न करनी चाहिए। वर्तमान

अवस्था में जगत् में सर्वत्र एकरस व्याप्त ब्रह्म को देखकर 'जगत् ब्रह्म है' ऐसा मानकर काम करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। सृष्टि के आदि का इतिहास जानने में कोई लाभ नही है। इसीलिए गान्धी ने योगानन्द स्वामी से कहा--

"जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, और क्यों हुई, इन सब प्रश्नों की चिन्ता में मैं क्यों पड़ूं ?"

इस पर योगानन्द ने पूछा— "ईश्वर ने हमें बुद्धि तो दी है ?" फिर गान्धी ने उत्तर दिया— "बुद्धि तो जरूर दी है, पर वह बुद्धि हमें यह समझने में सहायता देती है कि जिन बातों का हम ओर-छोर नहीं निकाल सकते उनमें हमें माथापच्ची नहीं करनी चाहिए (ब्र० १ पृ० १४२-१४३)।"

यहाँ हमें शकराचार्य के निम्नलिखित शब्द स्मरण आते हैं— नहि सृष्ट्याख्यायिकापरिज्ञानात् किंचित् फलमिष्यते, ऐकात्म्यप्रतिपत्तेस्तु अमृतत्व फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्।

अर्थात् सृष्टि की आख्यायिका के परिज्ञान से कुछ फल नही होता। अद्वैतात्मानुभूति से अमृतत्व की प्राप्ति होती है-- यह सब उपनिषदों में कहा गया है।

इसीलिए गान्धी शकर के वेदान्त और भाव को लेकर कहते हैं "वेदान्त कहता है कि यह जगत् माया रूप है। यह निरूपण भी मनुष्य की तोतली वाणी का है। इसलिए मैं कहता हूं कि मैं इन बातों में पड़ता ही नहीं। ईश्वर के घर के गूढ़-से-गूढ़ भेद जानने का भी मुझे अवसर मिले तो भी मैं उन्हें जानने की हामी न भरूँ। कारण यह है कि मुझे यह पता नही कि मैं यह सब जानकर क्या करूँगा। हमारे आत्मविकास के लिए इतना ही काफी है कि मनुष्य जो कुछ अच्छा काम करता है, ईश्वर निरन्तर उसके साथ रहता है (वही पृ० १४२)।"

इस प्रकार गान्धी ने लीलावाद और मायावाद अथवा ऐसे ही किसी अन्य वाद पर माथा-पच्ची करना सचमुच अनावश्यक समझा।

इस विषय में हम उनकी तुलना गौतमबुद्ध से कर सकते हैं जिन्होंने कतिपय प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया। गान्धी के अव्याकृत भी इसी प्रकार अव्याकृत हैं। यह प्रसिद्ध बात है कि इन अव्याकृतों में एक राय सभी दार्शनिकों की कभी भी नहीं हो सकती है। अतः इन पर चिन्ता करना सचमुच विशेष फलोत्पादक नही है।

निष्कर्ष

सृष्टिविज्ञान की चिन्ता गान्धी-दर्शन का विषय नही है। गान्धी इससे उदासीन हैं। पर उनके योगमायावाद और ब्रह्मवाद से स्पष्ट है कि परम सत् ब्रह्म ही अकेला है और प्रकृति सत् होते हुए भी परम सत् नहीं है। प्रकृति और ब्रह्म में एक दृष्टि से अभेद संबन्ध है और दूसरी दृष्टि से अनिर्वचनीय सबन्ध है। जिस अर्थ में प्रकृति सत् है उसमें प्रकृति ब्रह्म ही है। जिस अर्थ में वह ब्रह्म-भिन्न है, असत् है, उस अर्थ में ब्रह्म में उसकी अनिर्वचनीयख्याति है।



अध्याय ६

बुराई क्या है ?

गुण-दोषमय जगत्

गान्धी ने तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे को अपने प्रार्थना-प्रवचन में कहते हुए माना कि जगत् और देह के साथ गुण-दोष लगे हुए हैं —

जड़ चेतन गुन दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सत हस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार ॥

(प्रा० १ पृ० १०५)

अर्थात्

कर्त्ता परमात्मा ने विश्व को जड़-चेतनमय और गुण-दोषमय बनाया है। इसमें गुण और दोष दूध तथा पानी की तरह घुले मिले हैं। संतों का कर्त्तव्य है कि वे हस की तरह पानी-रूपी विकार या दोष को त्याग करके गुण का ग्रहण करें।

दोष के ही पर्याय बुराई, पाप, अधर्म, अवगुण, दुर्गुण और कलुष हैं। फिर चूँकि गान्धी परमात्मा को खुदा मानते हैं, इसलिए वे इसे शैतान या राक्षस भी कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मा राम है तो बुराई

रावण, परमात्मा पांडव है तो बुराई कौरव। परमात्मा अहिंसा है तो बुराई हिंसा। परमात्मा सत्य है तो बुराई असत्य। भलाई या परमात्मा दैवी वृत्ति है तो बुराई आसुरी वृत्ति। परमात्मा तत्त्व है तो बुराई माया। बुराई जगत् और देहधारी जीव दोनों मे है। बुराई का संबंध देहमात्र से है। जब तक देह है तब तक पिंड में बुराई भी है। जब तक जगत् का अस्तित्व है, तब तक उसमें बुराई का भी अस्तित्व है।

जगत् में बुराई है, इसको कबीर का निम्नलिखित पद बताता है, जो भजनावलि में दिया हुआ है:—

रहना नहीं देस बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है ॥
यह संसार काँटे की बाड़ी, उलझ-उलझ मरि जाना है ॥
यह संसार झाड़ और झाँखर, आग लगे बरि जाना है ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥

संसार बुराई का घर है, इसमें सच्चा गुरु ही वह एक स्थान है जहां हमें कुछ बुराई से बचने का उपाय मिल सकता है, जहां हम अपना अड्डा पा सकते हैं।

जीव में बुराई बताने वाले वचन भी गान्धी ने अनेक बार कहे। उनके मत से इन्सान भूलों और गलतियों का पुतला है।

पर यह न समझना चाहिए कि जीव और जगत् में महज बुराई ही बुराई ही हैं। दोनों में भलाई भी है। जगत् में परमात्मा व्याप्त है, जीव का भी अन्तर्यामी वही है। परमात्मा भला है। उसकी भलाई जीव और जगत् में भी विद्यमान है।

इस प्रकार जीव-जगत् में भलाई-बुराई दोनों हैं। बुराई से, अधर्म से, दुःख होता है और भलाई से, धर्म से, सुख होता है। इस कारण जीव-जगत् सुख और दुःख से भी परिपूर्ण हैं।

जीव और जगत् में भलाई-बुराई दोनों का सह-अस्तित्व होने के कारण और प्रत्येक का दूसरे का विरोधी होने के कारण इन दोनों में सदैव लड़ाई चलती रहती है। पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों कुरुक्षेत्र बने हुए है जहाँ पाप-पुण्य की, धर्म-अधर्म की, भलाई-बुराई की शाश्वत् लड़ाई हो रही है।

ईसाई धर्म और इस्लाम इसी लड़ाई को ईश्वर और शैतान के बीच का भीतरी, बाहरी नही, द्वन्द्वयुद्ध मानते है। पारसी धर्म इसको अहुरा मज्दा और अहिर्मन का द्वन्द्वयुद्ध मानता है। हिन्दू धर्म इसे धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच की लड़ाई कहता है (हि० ध० पृ० १२१)

इस लड़ाई के विषय मे गान्धी के निम्नलिखित विचार हैं—

१—सत्यमेव जयते, नानृतम अर्थात् सत्य की, भलाई की इसमें जीत होती है, झूठ या बुराई की नही। कल्याण के मार्ग पर चलने वाले की कभी अधोगति न होगी, बुराई के मार्ग पर चलने वाले को कभी सफलता न मिलेगी।

२—बुराई भलाई के बिना टिक नही सकती है। असत्य में सत्य छिपा है, अन्धकार में प्रकाश छिपा है और इसी प्रकार बुराई में भलाई कुछ न कुछ रहती है। जब जगत् ईश्वर से, भलाई से, ओत-प्रोत है, तो जो कुछ बुराई है, उसकी भी कुछ-न-कुछ भलाई अवश्य है। इसी कारण बुराई कुछ समय तक टिकी रहती है। ऐसा न हो तो वह एक क्षण भी नहीं टिक सकती है।

३—बुराई अपना नाश स्वयं करती है। बुराई ऐसी बनी ही हुई है कि उसका नाश हो, वह फिर-फिर जन्मे और फिर-फिर मरे। इस तरह जो लक्षण नित्यजन्मा, नित्यमरणा जगत् का है, वही लक्षण बुराई का भी है।

४—भलाई बुराई की बनिस्बत ज्यादा है। इसीलिए हम जीव और जगत् को भला कहते हैं, बुरा नहीं कहते हैं।

"भगवान् उसी अर्थ में भला नही है, जिसमे इन्सान भला है। इन्सान तुलना में भला है। वह बुरे की बनिस्बत भला ज्यादा है। लेकिन भगवान् तो भला ही भला है। उसमें बुराई का नाम भी नही है (प० अ० पृ० २८)।"

इस प्रकार बुराई को कुछ जान लेने पर तत्त्वज्ञानी प्रश्न उठा सकता है कि यह कहाँ से आई और कैसे आई ?

बुराई का कारण

१—बुराई का कारण बताते हुए गान्धी ने कहा कि "मैं जानता हू कि उसमें (ईश्वर में) बुराई नही है। वह इसका रचयिता है और इससे अछूता भी है (हि० ध० पृ० ६६)।"

यहाँ बुराई का कारण ईश्वर कहा गया है, ठीक वैसे ही जैसे वह जगत् का कारण कहा जाता है क्योंकि बुराई का अधिष्ठान जगत् तो ही है। पर यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि बुराई का कारण ईश्वर कैसे हो सकता है ? ईश्वर में यदि बुराई नही है तो वह बुराई का कारण नहीं हो सकता। फिर जब यह माना जाता है कि ईश्वर जो उत्पन्न करता है उसमे वह समाया हुआ रहता है, तो फिर क्यों नहीं माना जाता कि यदि बुराई ईश्वर-कृत है तो फिर ईश्वर बुराई से ऐसे ही सलंग्न है जैसे कि वह अपनी सृष्टि की अन्य वस्तुओं से। अतः यह उत्तर संतोषजनक नहीं हो सकता है। इसको गान्धी जानते हैं। इसलिए इसके पहले वे कहते हैं कि ईश्वर अपने जगत् में बुराई को बरदाश्त कर लेता है (हि० ध० पृ० ६६)। शायद इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि वह बुराई का रचयिता है। इस पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—

"यह कहना कि ईश्वर बुराई को इस संसार में आदेश देता है, कानों को सुखद नही लग सकता है। किन्तु यदि वह भलाई का जिम्मेवार समझा जाता है, तो यह सिद्ध होता है कि उसे बुराई का भी जिम्मेवार

होना है। क्या राम ने रावण के अद्वितीय पराक्रम के प्रदर्शन को बरदाश्त नहीं किया ? शायद इस शंका का मूलकारण 'ईश्वर क्या है ?' इसे न समझना है। ईश्वर शरीरी नहीं है, वह वर्णनातीत है (वही पृ० ६६)।"

यहाँ स्पष्ट है कि सगुण ब्रह्म या ईश्वर जो सभी गुणों मात्र का ही निधान है, बुराई के कारण को नहीं सुलझा सकता। पर जो ईश्वर या ब्रह्म सगुण-निर्गुण से परे है, भलाई और बुराई से परे है, वह जैसे भलाई का कारण होता है वैसे ही वह बुराई का भी कारण होता है। पर उसकी यह कारणता वैसे ही है जैसे कि जगत् की कारणता, जिसका समाधान हम देहतत्त्व और जगत् के अध्याय मे कर आए हैं।

यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ईश्वर का अपने जगत् मे बुराई को बरदाश्त करना उसकी दयालुता और सहिष्णुता जैसे गुणों का ही द्योतक है।

२— ईश्वर भलाई है या भलाई ईश्वर है—इस वाक्य मे भलाई का वह अर्थ नहीं है जो हम लेते हैं। हम भलाई को सदैव बुराई की तुलना मे अधिक समझते हैं और भलाई में भी कुछ-न-कुछ बुराई मानते है। इस कारण हमारी भलाई ईश्वर की भलाई नहीं है। हमारी भलाई वस्तुत. बुराई से बचना है। बुराई का कारण ईश्वर नही है, बुराई का कारण इन्सान स्वयं है। भगवान् ने इन्सान को बनाया और इन्सान ने अपनी करतूत से अपने पिड तथा ब्रह्मांड दोनों में बुराई पैदा कर दी।

इस प्रसग मे हम याद कर सकते है कि जगत् की द्विविध कल्पना संभव है। एक तो वह जिसके अनुसार उसकी जड़ ऊर्ध्व है और दूसरी वह जिसके अनुसार इसकी जड़ नीचे है। हम दूसरी कल्पना को प्रातिभासिक सत् और पहली कल्पना को माया अर्थात् व्यावहारिक सत् कह आए है। दूसरी कल्पना के अनुसार जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता जीव ही है। इस प्रकार बुराई की भी ये दो कल्पनाएँ की जा सकती हैं। दूसरी

कल्पना में बुराई प्रातिभासिक है, अज्ञानमूलक है, भ्रम है। उसका कुछ अस्तित्व नही है। वह मानव के अज्ञान के कारण उत्पन्न हुई है।

गान्धी बुराई को प्रातिभासिक नहीं मानते हैं। "मोद या जिसे लोग सुख कहते है वह इस क्षणभगुर परिवर्तनशील ससार में एक स्वप्न हो सकता है, और वस्तुत है भी क्योंकि यहाँ प्रत्येक वस्तु नश्वर, स्वप्नमय है। किन्तु हम अपने साथियों के दुःख को असत् कहकर टाल नही सकते है और न ऐसा कहकर हम अपना नैतिक जगत् कही अन्यत्र बना सकते है। स्वप्न भी सत्य हैं जब कि वे होते हैं और दु खी के लिए उसका दुःख कटु सत् है। कुछ भी हो, चाहे जगत् सत् हो या असत् हो, जीवन में हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं जिनका सामना करना ही है, जिन्हें समझना और उचित ढग से करना ही है जब तक कि हम इस जगत् में है (हि० ध० पृ० ५२)।"

इस प्रकार दुःख या बुराई की व्यावहारिक सत्ता है। इसका कारण मानव का अज्ञान नही है।

और फिर "यदि प्राणिमात्र में अभेद है तो एक के पाप का असर दूसरे के ऊपर होना लाजिमी ही है। इस वजह से भी मनुष्य हिंसा से नितांत अछूता नही रह सकता। समाज में रहने वाला मनुष्य समाज की हिसा में बिना चाहे भी साक्षी बनता रहता है (आ० पृ० ४४१-४४२)।"

अब स्पष्ट हो गया कि जैसे जगत् का कारण मनुष्य नही है, वैसे बुराई का भी कारण मनुष्य नही है। बुराई व्यक्ति से स्वतन्त्र भी अपनी सत्ता रखती है। हम जगत् को भला-बुरा का मिश्रण कह ही आए हैं। अतः जगत् की उत्पत्ति के विषय मे जो सिद्धान्त ठीक है वही बुराई के भी बारे में ठीक है। बुराई का अन्तर्भाव भलाई में नहीं किया जा सकता। बुराई को अच्छाई का निम्न रूप या सुप्त रूप नहीं कहा जा सकता। बुराई माया है जैसे कि जगत् माया है। यह अनिर्वचनीय है और व्यावहारिक है।

३— ऊपर कहे गए दोनों मतों से कोई लाभ नहीं है। "दुनिया में पाप क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। मैं तो एक ग्रामवासी जो जवाब देगा वही दे सकता हूं। जगत् में प्रकाश है तो अन्धकार भी है। इसी तरह जहाँ पुण्य है वहाँ पाप होगा ही। किन्तु पाप और पुण्य तो हमारी मानवी दृष्टि से हैं। ईश्वर के आगे तो पाप और पुण्य जैसी कोई चीज ही नही। ईश्वर तो पाप और पुण्य दोनों से परे है। हम गरीब ग्रामवासी उसकी लीला का मनुष्य की वाणी में वर्णन करते हैं, पर हमारी भाषा ईश्वर की भाषा नहीं है (त्र० १ पृ० १४१)।" इस प्रकार गान्धी बुराई-भलाई को ईश्वर की लीला कहते हैं। यहाँ वे लीलावाद का समर्थन करते हैं।

४—पर वस्तुत लीला कह देने से भी काम नहीं चलता। लोगों को इस पर भी सन्देह हो सकता है और स्वय गान्धी को भी इससे संतोष नहीं है। अतः वे कहते हैं :—

"बुराई-बुराई का ख्याल करते रहने से नही मिटती। हाँ, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है; लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उलटी तरकीबें काम मे लाते हैं। 'वह कैसे आई, कहाँ से आई ? वगैरह विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना' कहने की कोई जरूरत नही। हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नही और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है। उसका विचार तक न करने मे निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नहीं सकती। अनुभव द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है (गी० मा० पृ० ५६१-५६२)।"

इस प्रकार बुराई कहां से कैसे आई ? इस प्रश्न की मीमांसा करना अनावश्यक है। यह भी एक 'अव्याकृत' प्रश्न है। हमें बुराई के अस्तित्व को मान लेना चाहिए और फिर उसका ध्यान तक न करके उसकी इतनी उपेक्षा करनी चाहिए कि वह है ही नही।

पर इतना ही मानना पर्याप्त नही है। यह भी मानना आवश्यक है कि बुराई का अन्त किया जा सकता है। बुराई जीती जा सकती है। इसलिए यद्यपि बुराई का कुछ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है तथापि उसका ठिकाना नही है कि वह कल रहेगी। वह नष्ट होने वाली है। इसलिए उसकी स्थिति वस्तुत. माया है। माया का यहाँ वही अर्थ लेना चाहिए जिसे विवेकानन्द ने दिया है। माया कोई सिद्धान्त नही है, यह वस्तु-स्थिति का निरूपण है। जो सत् हो और फिर भी अन्तिम सत् न हो और अवश्य रूप से नश्वर हो, असत् हो, उसी वस्तु को हम माया कहते हैं। इस प्रकार बुराई को माया मान लेने से पर्याप्त लाभ है।

इस माया को पार करना है। इससे बचकर भला होना है। जब हम विशुद्ध भले हो जायेंगे तो हम परमात्मा में मिल जायेंगे या परमात्मा ही हो जायेंगे। यह अद्वैत आदर्श बुराई को जीतने वाले के समक्ष रहना अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति को यह भी समझना जरूरी है कि वह स्वयं निरा बुरा नही है। वह वस्तुतः निरा भला है। पर वस्तु-स्थिति-वश, मायावश, वह भले और बुरे का मिश्रण हो गया है। अतः उसका आदर्श उसमे मौजूद है। उसे अपनी भली, निरी भली आत्मा को ही प्राप्त करना है। यही परमार्थ-बुद्धि है। बुराई का पारमार्थिक मूल्य है। इसको स्वीकार करना प्रार्थना है— प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता को कबूल करना है— (हि० ध० पृ० ११६)। इसीलिए गान्धी को सूर का निम्नलिखित पद बहुत पसन्द था—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिनु तन दियो ताहि बिसरायो ऐसौ निमकहरामी।

ईश्वर बुराई से बचाने वाला है। इसका मतलब है कि भलाई हमे बुराई से बचाने वाली है। मनुष्य को इस भलाई-रूपी परमात्मा से अच्छे होने की प्रार्थना अर्थात् हार्दिक पुकार करनी चाहिए—

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
सम दरशी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो ॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो हि नीर भरो ॥
जब मिलकर के एक बरन भए सुरसरि नाम पर्यो ॥
इक लोहा पूजा मे राखत, इक घर बधिक परो ॥
पारस गुन अवगुन नहि चितवत कंचन करत खरो ॥
यह माया भ्रम-जाल कहावत सूरदास सगरो ॥
अब की बेर मोहि पार उतारो, नहि प्रन जात टरो ॥

इस प्रकार परमात्मा गगा और पारस पत्थर की भाँति सबको अपने में लेने वाला है। यदि लोग उसको पाने की चेष्टा करें तो वह मिल सकता है। तब माया-जाल टूट सकता है। बुराई का अन्त हो सकता है।

यदि कोई इसमे ईसाइयत की गन्ध देखे और कहे कि मनुष्य स्वभावत. पापी ही है, पुण्यात्मा नही है, तो गान्धी उसे अपनी भजनावलि का निम्नलिखित नानक का पद बतलाकर कहेंगे कि मनुष्य बुरा से कहीं अधिक भला है और उसमें ही परमात्मा का जो कि भलाई ही है, वास है।

काहे रे! बन खोजन जाई।
सर्व-निवासी सदा अलेपा, तोही सग समायी ॥
पुष्पमध्य ज्यो बास बसत है, मुकुट माहि जस छायी।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजो भाई ॥
बाहर-भीतर एकै जानौ, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ॥

अगर कोई गान्धी से पूछे कि ईश्वर मनुष्य को पाप-मुक्त क्यों नहीं कर देता ? वह क्यों मनुष्य के प्रयत्न की बाट जोहता है तो वे कहेंगे—"मैं इस प्रश्न की उधेड़-बुन में नहीं पड़ना चाहता। ईश्वर और हम बराबर नहीं हैं। बराबरी वाले ही एक दूसरे से ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं, छोटे-बड़े नहीं। गांववाले यह नहीं पूँछते कि शहरवाले अमुक काम क्यों करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर हमने वैसा किया तो हमारा सर्वनाश तो निश्चित ही है (ब्र० २ पृ० १४२)।"

निःसन्देह यहां गान्धी ने बड़ी जोरदार दलील दी है। इसका आशय स्पष्ट है कि यह प्रश्न 'अनुत्तरार्ह अव्याकृत' ही नहीं किन्तु अनावश्यक और निष्प्रयोजन भी है।



अध्याय १०

मोक्ष का सिद्धान्त

गान्धी मोक्ष को अपना आदर्श मानते हैं। उनकी नयी तालीम, बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भी है कि मोक्ष के लिए ही पढ़ना चाहिए। विद्या सा या विमुक्तये—वही विद्या है जो मोक्षदायिनी हो, इस भारतीय सिद्धान्त के अनुसार ही उन्होंने प्रत्येक कला, विज्ञान और शास्त्र का उद्देश्य मोक्ष दिलवाना माना।

मोक्ष को गान्धी मुक्ति, सत्य-प्राप्ति, अहिंसा-प्राप्ति, ईश्वरदर्शन, हरि-दर्शन, आत्म-ज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, परमपद कहते हैं। उनके विचार से इस स्थिति में जीव और परमात्मा का, जगत् और परमात्मा का, अभेद-भाव या अद्वैत-भाव होता है। उनका कहना है कि उनका प्रत्येक कार्य इसी के उद्देश्य से होता है। वे यह भी कहते हैं कि उन्हें यह सत्य मिला नहीं है (द्र० आ० प्रस्तावना ५-६)। इससे स्पष्ट है कि वे जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं।

विदेह मुक्ति

गान्धी जीवन्मुक्ति को संभव नहीं मानते। उनके अनुसार जब तक देह है तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वे विदेह मुक्ति

के सिद्धान्त के हिमायती है। मुक्ति तभी मिलती है जब कि देह का नाश हो जाता है। वे कहते हैं—

"मैं प्रतिक्षण अहिंसा की अमित शक्ति और मनुष्य की अल्पता को अधिकाधिक स्पष्टता से देखता हूं। बन में रहने वाला, अपनी अपरिमित दया के बावजूद भी हिंसा से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक श्वास के साथ-साथ वह कुछ न कुछ हिंसा करता है। शरीर स्वयं हिंसा का घर है। इस कारण मोक्ष और नित्य आनन्द शरीर से पूर्ण मुक्ति पाने मे ही हैं (हि० ध० पृ० १६५)।"

और

"मोक्ष की अनिवार्य शर्त सभी इच्छाओं का संपूर्ण नाश है। मुमुक्षु येन-केन प्रकारेण अपने नश्वर शरीर को सुरक्षित नहीं रख सकता (वही पृ० २३८)।"

तथा

"केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नही रह जाती। सर्व-व्यापक आत्मा शरीर-रूपी पिजड़े में कैसे बन्द रह सकता है? यह पिजड़ा बनाए रखने का अनर्थ कैसे कर सकता? दूसरे को कैसे मार सकता है? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुँच जाते हैं और शरीर की स्थिति-पर्यन्त उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहाँ तक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊँघना, सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतने वाला मनुष्य अंत में सत्य की झांकी करेगा (ध० नी० प० १४३-१४४)।"

"जब तक शरीर है तब तक कोई पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि यह आदर्श अवस्था तब तक असंभवित है जब तक कि

अहंकार को जीत नही लिया जाता और जब तक मनुष्य पिड के बन्धनों में जकड़ा है तब तक अहंकार से छुटकारा नही मिल सकता (गान्धी के वाक्य रो० पृ० २३६)।"

विदेह मुक्ति देहपात के अनन्तर ही होती है। पर यह सब जीवों को नही मिलती। ब्राह्मीस्थिति या स्थितप्रज्ञ की स्थिति मिल जाने पर आदमी मोह में नहीं पड़ता और इस हालत में रहते हुए वह मर जाय, तो ब्रह्म-निर्वाण या मोक्ष पाता है (द्र० गी० मा० पृ० १४, १३४ और ब्र० २ पृ० ६६)।

इस प्रकार देह रहते स्थितप्रज्ञ की स्थिति ही संभव है। इसका गीता के दूसरे अध्याय मे सुन्दर वर्णन है और यह गान्धी की दैनिक प्रार्थना का अश भी था।

गान्धी स्थितप्रज्ञ और भक्त में कोई अन्तर नहीं देखते। वे कहते हैं—

"राम के भक्त और गीता के स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नही है। ज्यादा गहरे उतरे तो हम देखेंगे कि रामभक्त पच महाभूतों का सेवक होगा। वह प्रकृति के कानून पर चलेगा। इसलिए उसे किसी तरह की बीमारी होगी ही नही। होगी भी तो वह उसे पंच महाव्रतों की मदद से अच्छा कर लेगा। किसी भी उपाय से भौतिक दु.ख दूर कर लेना आत्मा का काम नही, शरीर का भले ही हो। इसलिए जो शरीर को ही आत्मा मानते है, जिनकी दृष्टि में शरीर से अलग शरीरधारी आत्मा जैसा कोई तत्त्व नही, वे तो शरीर को टिकाए रखने के लिए सारी दुनिया में भटकेंगे, लंका जायेंगे। इससे उल्टे जो यह मानता है कि आत्मा देह में रहते हुए भी देह से अलग है, हमेशा स्थिर रहने वाला तत्त्व है, अनित्य शरीर में बसता है, शरीर की संभाल तो रखता है, पर शरीर के जाने से घबराता नही, दु.खी नही होता और सहज ही उसे छोड़ देता है, वह देहधारी डाक्टर वैद्यों के पीछे नहीं भटकता। वह खुद अपना डाक्टर बन जाता है। सब काम करते हुए भी वह आत्मा का ख्याल रखता है। वह मूर्छा में से जागे हुए की तरह बर्ताव करता है।

"ऐसा इन्सान हर सांस के साथ रामनाम जपता रहता है। वह सोता है, तो भी उसका राम जागता है। खाते-पीते कुछ भी काम करते हुए राम तो उसके साथ ही रहेगा (ब्र० २ पृ० ६०)।"

यहाँ गान्धी ने अपने अनुसार स्थितप्रज्ञ या भक्त का लक्षण बताया। एक वाक्य में सच्ची सर्वदा नाम-साधना करने वाला मनुष्य ही स्थितप्रज्ञ या भक्त होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या गान्धी को यह स्थिति मिली थी ? वे स्वयं कहते हैं— "मैं स्वीकार करता हूं कि इस स्थिति को पहुँचने की कोशिश करने पर भी मैं अभी उससे बहुत दूर हूं। मैं अनुभव करता हूं कि जब हमारे आसपास इतना तूफान (साम्प्रदायिक दगे आदि) मचा हुआ है, तब उस स्थिति को प्राप्त करना कितना कठिन है !" (वही पृ० ६१)।

इसे २२ जनवरी १६४७ को गान्धी ने कहा। इससे जाहिर होता है कि वे स्थितप्रज्ञ या भक्त नहीं हो पाए थे।

पर लगता है कि यह उनकी नम्रता का प्रकाशन है। वे स्वयं नम्रता पर बड़ा जोर देते थे और शून्यवत् रहने की प्रेरणा करते थे। उनके अनुसार "मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे पीछे न रखे, सबसे छोटा न माने तब तक उसकी मुक्ति नहीं है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और इस नम्रता के बिना मुक्ति किसी काल मे नहीं है, यह अनुभव सिद्ध बात है (आ० पृ० ६२३)।"

अतः इस नम्रता के प्रकाशन से सिद्ध होता है कि वे अत्यन्त नम्र थे और इस कारण स्थितप्रज्ञ हो सकते है। उनकी नम्रता की अभिव्यक्ति उन्हें स्थितप्रज्ञ होने में बाधा न डालकर सहायता ही करेगी।

हम देखते हैं कि गान्धी प्राकृतिक चिकित्सा पर जोर ही नहीं देते थे वरन् स्वयं को, अपने परिवार वालों को तथा अपने साथियों को नीरोग भी करते थे। इस चिकित्सा के अतिरिक्त वे रामनाम को भी

चिकित्सक समझते थे और कहते थे कि यही प्राकृतिक चिकित्सा का आधार है।

अपने सर्वदा रामनाम जपने के विषय मे वे स्वयं कहते हैं :—

"वह अशरीरी सब के शरीर में भरा है। हम उसी को भजते हैं। मैं उसी राम का पुजारी हूं। रावण की पूजा मैं कैसे कर सकता हूं? चाहे आप मुझे मार डालें, आप मुझ पर थूकें, मैं मरते दम तक राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहता रहूंगा। और फिर उस वक्त भी जब मुझ पर हाथ चलाते रहोगे तो मैं आपको दोष न दूंगा। मैं ईश्वर से भी यह नहीं कहूंगा कि यह तू मेरे ऊपर क्या कर रहा है? मैं उसका भक्त हूं। मैं उसका किया स्वीकार लूँगा।. .मेरी प्रार्थना जगत् को दिखलाने के लिए नहीं है। मेरी प्रार्थना मन की शान्ति के लिए है, दिल की सफाई के लिए है (प्रा० १ पृ० १६)।"

और

"यह भी कहता हूं कि पिछले तीन दिन प्रार्थना नहीं हुई, ऐसा कोई न माने। जब आप यहाँ आए, मैं यहाँ आया और हम सब शान्त रहे तो वह प्रार्थना ही थी, क्योंकि हमारे दिलों में प्रार्थना थी (वही पृ० २३)।"

निःसन्देह कबीर के साथ गान्धी प्रतिदिन अपनी प्रार्थना में गाते थे—

साधो सहज समाध भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागे,
दिन दिन अधिक चली ॥ १ ॥
जह जह डोलौं सो परिकरमा,
जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौ तब करौं दंडवत्,
पूजौं और न देवा ॥ २ ॥

कहौ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन,
खावँ पिवौ सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौ
भाव मिटावौ दूजा॥ ३॥
आख न मूँदौ, कान न रूँधौं,
तनिक कष्ट नहि धारौ।
खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि
सुन्दर रूप निहारौ॥ ४॥
सबद निरन्तर से मन लागा,
मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न छूटै,
ऐसी तारी लागी॥ ५॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी
सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोई परे परमपद
तेहि पद रहा समाई॥ ६॥

(द्र० भजनावलि)

कबीर यहाँ जिसे उन्मनी-स्थिति कहते हैं वही गान्धी की स्थितप्रज्ञ-स्थिति है। दोनों एक ही स्थिति हैं।

फिर जब गान्धी को मार डाला गया, तो उनके मुख से 'राम! राम!' निकला और उन्होंने यावत्प्राण कहा कि उनके मारने वाले को दण्ड न दिया जाय।

इन कारणों से हम कह सकते हैं कि गान्धी स्थितप्रज्ञ थे। और चूँकि मृत्यु काल में भी वे ऐसे बने रहे अतः उनको विदेहमुक्ति मिली, अवश्य मिली।

कुछ लोग यहाँ शंका करेंगे कि स्थितप्रज्ञ का देह यदि स्वभावतः छूटता है, तब तो उसे विदेहमुक्ति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति, मिल सकती है

और अन्यथा नही। गान्धी को तो गोली से मार डाला गया था। वे पूर्ण स्थितप्रज्ञ भी नहीं हुए थे। अतः वे कैसे ब्रह्मीभूत माने जा सकते हैं?

इसका उत्तर यह है कि परमात्मा अपने भक्त या स्थितप्रज्ञ की कड़ी-से-कड़ी परीक्षा लेता है। यह गान्धी तथा सभी संतों का सिद्धान्त है। गोली द्वारा मारा जाना गान्धी की स्थितप्रज्ञता या भक्ति की परीक्षा थी। उस स्थिति में भी वे भक्त बने रहे, अतः वे इस परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण हुए, यह समझने में कोई भूल नहीं जान पड़ती।

इस प्रकार यद्यपि गान्धी जीवन्मुक्ति को नही मानते हैं, तो भी वे विदेहमुक्ति को सच्चे रूप में मानते हैं और उन्होंने इसको प्राप्त भी किया।

वे ईसा, मूसा, सुकरात, बुद्ध, कनफ्यूसियस, शंकर, आदि को भी सिर्फ स्थितप्रज्ञ या भक्त मानते हैं। हां, वे इनको अपने से बड़ा स्थित-प्रज्ञ मानते हैं। इस प्रकार वे स्थितप्रज्ञता में क्रम को मानते है जैसे कोई जीवन्मुक्ति मे क्रम या तारतम्य माने।

विदेहमुक्ति मे क्रम का प्रश्न ही नही उठता। स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर वह सहज ही देहपात के अनन्तर मिल सकती है।

सद्यो मुक्ति और क्रममुक्ति

लगता है कि किसी समय गान्धी सद्योमुक्ति में विश्वास करते थे क्योंकि वे कहते हैं—

"यदि मेरी कोई प्रबल इच्छा है, तो वह महज ईश्वर तक पहुँचना है, संभव हो तो एक ही छलांग में, और अपने को उसमें तल्लीन कर देना है (च० पृ० ६१)।"

यहाँ वे सद्योमुक्ति को सभव मानते हैं और अपने लिए भी शक्य समझते है। पर बाद को उन्होंने इस मत को, कम से कम, अपने लिए अशक्य समझ लिया। उन्होंने मिसेज पोलक से कहा—"कभी मैं सोचता था कि इसी जन्म मे मैं आवागमन के चक्र को समाप्त कर सकता हूं।

अब मैं जानता हूं कि मैं नही कर सकता और मुझे फिर जन्म लेना पड़ेगा। मैं इससे बच नही सकता हूं, किन्तु मैं आशा करता हूं कि मुझे अब एक ही बार फिर जन्म लेना पड़ेगा (वही पृ० ६१)।"

इससें स्पष्ट है कि गान्धी क्रममुक्ति में विश्वास करते थे। सद्यो-मुक्ति का संबंध जीवन्मुक्ति से है। वह जीवन्मुक्ति भी हो सकती है। उसमें कर्म करना, देह के रहते भी, संभव नहीं है। गान्धी को यह इष्ट न था। अतः उन्होंने क्रममुक्ति के सिद्धान्त का ही समर्थन किया। इसका मतलब यह है कि प्रयत्न करने से धीरज के साथ साधना करते रहने से क्रमशः मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

गीता के निम्नलिखित श्लोक में इसको यों कहा गया है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विष. ।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।।६।४५

अर्थात्

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परम गति को पाता है।

क्रममुक्ति के मानने से गान्धी मानते हैं कि इस मनुष्य-लोक, मर्त्य लोक, के अतिरिक्त भी अन्य लोक हैं जैसे चन्द्रलोक आदि। धर्मक्षेत्र मनुष्यलोक ही है। यहाँ जो जैसा कर्म करता है उसे मरने के बाद वैसा ही लोक मिलता है। फिर, जब उसका पुण्य क्षीण होता है तो वह फिर मनुष्य-लोक मे अपने कर्म के अनुसार जन्म लेता है। इस प्रकार यदि किसी पुरुष को मोक्ष मिलेगा, तो उसे मनुष्य-लोक मे ही धर्म-कर्म से, ज्ञान-वैराग्य से, मिलेगा। मोक्ष देने वाला मनुष्य-लोक ही है। इसीलिए कहा जाता है कि सुरगण भी मनुष्ययोनि में जन्म लेने को झंखते हैं।

इन सभी लोकों को मिलाकर ससार या आवागमन का चक्र कहते हैं। इस चक्र में निःसन्देह मनुष्य-लोक का सर्वोत्तम महत्त्व है।



अध्याय ११

गान्धी-दर्शन का विकास-क्रम

तथा

अन्य दर्शन-सम्प्रदाय

गान्धी-दर्शन सभी दर्शनों का आधुनिक भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल समन्वय है। अपने इस समन्वय के बारे में उन्होंने कहा—

"मूसा, बुद्ध, कनफ्यूशियस, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद हर देश में हुए महान् धर्मोपदेष्टा और तत्त्वज्ञानी सबने अपने-अपने देश और काल में मनुष्य के आचार को परखने की कोई-न-कोई कसौटी पेश की। अतः सामान्य, सर्वोपयोगी नीतिशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, मानस-शास्त्र, शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आश्रित होगा। ये सब मिलकर अनेक तथ्य या माने हुए तथ्य प्रस्तुत करते हैं जो स्वतः प्रमाण होते हैं। अतः किसी भी युग या सभ्यता में वैयक्तिक काम-नीति या संभोग नीति के नियम उन्हीं तथ्यों के आधार बनेंगे जो लोगों के अपने अनुभव में उनपर सबसे ज्यादा असर डालते हैं। सामाजिक कामनीति की तरह वैयक्तिक काम-नीति भी युग-युग में

भिन्न होती। पर उसकी बातें स्थायी और अल्पाधिक सार्वकालिक होती हैं (अ० रा० पृ० १६०-१६१)।"

यहाँ जो बात वैयक्तिक कामनीति के बारे में कही गई है वही गान्धी के समग्र दर्शन के बारे मे समझनी चाहिए। इसका अभिप्राय निम्नलिखित हुआ—

१—प्रत्येक दर्शन में स्थायी और अल्पाधिक सार्वकालिक तथ्य होते हैं।

२—प्रत्येक दर्शन मे द्रष्टा, युग, देश और उसकी परिस्थिति के अनुकूल कतिपय तथ्य होते हैं जो अन्य दर्शनों में नहीं रहते और न रहना चाहिए।

३—गान्धी ने प्रसिद्ध धर्म और दर्शनों के स्थायी और सार्वकालिक तथ्यों को लेकर अपने अनुसार तथा अपने देश-काल के अनुसार उनका प्रयोग किया।

अब हम गान्धीकृत इस समन्वय पर विचार करेंगे।

गान्धी और भारतीय धर्म-दर्शन

गान्धी अपने को सनातनी हिन्दू कहते थे। बहुत से लोग उनके इस दावे को गलत सिद्ध करते थे क्योंकि वे हिन्दू धर्म मे कतिपय सुधार करते थे जैसे अस्पृश्यता-निवारण आदि। गान्धी के समय में जो प्रचलित हिन्दूधर्म था उसमें और गान्धी के हिन्दूधर्म में फर्क है। प्रचलित हिन्दूधर्म वेद, स्मृति, पुराण आदि के क्रमों से ऐतिहासिक तौर से पनपता चला आया है। गान्धी इस हिन्दूधर्म के मान्य-ग्रन्थों के सिद्धान्तों को लेकर दार्शनिक तौर से समन्वित करते हैं। अतः हम गान्धी के हिन्दूधर्म को दार्शनिक हिन्दुत्व और प्रचलित हिन्दूधर्म को साधारण हिन्दुत्व कहेंगे।

१— गान्धी वेद और उपनिषद् को अधिक मानते थे। उनका दावा यह सही है कि वेदकालीन हिन्दुत्व में छुआछूत और जांति-पांति का

विचार नहीं था। ये दुर्गुण कालान्तर में आए। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र मे उन्हे दार्शनिक साम्यवाद दिखलायी पड़ता है। (द्र० हि० ध० पृ० ४७)। वे इसे हिन्दू धर्म का सर्वस्व समझते है। सभी भारतीय विचारधारा को, जैन और बौद्ध तथा सभी हिन्दू दर्शनों को वे वेदोपनिषद् से निकले हुए मानते है। प्रतिदिन वे अपनी प्रार्थना मे उपनिषद् के वाक्यों का स्मरण करते है। उपनिषत्स्मरण करके वे बहुत से सारगर्भित उपनिषत् वाक्यों को अक्षरश मानते थे जो उनकी भजनावलि में सगृहीत है। सभी विद्याये और सभी कर्म मुक्ति के लिए होने चाहिए— इस वेद-वाद को भी वे मानते है।

२— मीमांसा के कर्ममार्ग को वे लेकर नया अर्थ देते है। यज्ञ को भी वे मानते है, पर इसका अर्थ परोपकारार्थ कर्म लेते है। वर्णाश्रम धर्म को भी वे मानते है पर उसको वे जाँति-पाँति और छुआछूत से विमुक्त करते है क्योकि वही वेदोपनिषत् की ध्वनि है। धर्मशास्त्रों को वे मानते है और कर्मणा जाति न मानकर जन्मना जाति भी मानते है। पर इसमे से वे ऊँच-नीच का भेदभाव हटा देते है।

२— वेदान्त को वे भारतीय दर्शन की चूड़ामणि मानते है और कुमारिल की तरह कहते है कि आत्म-विचार जितना वेदान्त में है उतना अन्यत्र कही नही है, अतः आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदान्त का ही अध्ययन करना चाहिए। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक मे कहा है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोध. प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

अर्थात्

भाष्यकार शबर ने नास्तिकवाद का निराकरण करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इस विषय का और दृढ़ीकरण वेदान्त के अनुशीलन से होता है। अर्थात् आत्मज्ञान का विषय वेदान्त है, कर्ममीमांसा नही— यह कुमारिल को मान्य है। जब गान्धी कहते हैं कि

"निष्पक्ष रूप से विचार करने पर मुझे यह प्रतीति हुई कि हिन्दूधर्म में जैसे गूढ़ विचार हैं, आत्मा का जैसे निरीक्षण है, दया है, वैसे दूसरे धर्म में नहीं है (आ० पृ० १७२)", तो उनका अभिप्राय आत्मनिरीक्षण से वेदान्त के प्रति है।

(क) शंकराचार्य के अद्वैतवाद, सृष्टिविज्ञान के प्रति उदासीनता, अलीक, प्रातिभासिक सत्, व्यावहारिक सत् और परमार्थ सत् के सिद्धान्तों को वे मानते हैं। मायावाद को वे विवेकानन्द की तरह वस्तु-स्थिति मानते हैं। व्यष्टि और समष्टि की एकता के सिद्धान्त को भी वे मानते हैं क्योंकि वे प्रायः कहते हैं कि जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। यदि यह सत्य है कि शंकराचार्य ने चाण्डाल को छूने से परहेज किया था, तो गान्धी इसे नहीं मानते। वे इसे अद्वैत-वाद का विरोधी मानते हैं। शंकराचार्य के प्रातः स्मरण को वे प्रतिदिन दुहराते हैं और उनके द्वादशपजरिका स्तोत्र का भी स्तवन करते हैं।

(ख) रामानुज से वे विदेहमुक्ति का सिद्धान्त लेते हैं और जीवन्मुक्ति को असंभवित बताते हैं। वे आगे कहते हैं कि "मैं रामानुज के आसन से ईश्वर की सृजन-शक्ति सिद्ध करता हूँ (द्र० हि० ध० प० ६३)।"

रामानुज तथा अन्य वैष्णव वेदान्तियों से गान्धी लीलावाद, प्रपत्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग तथा वैष्णव धर्म को लेते हैं।

(३) सांख्य से गान्धी प्रकृति और उसके परिणाम के सिद्धान्त को लेते हैं, कम से कम उनके स्वरूप के बोध के लिए। सांख्य के ज्ञानमार्ग को भी वे मुक्ति का द्वार मानते हैं, पर अपने लिए वे इसे अनावश्यक समझते हैं क्योंकि वे मीमांसा के कर्मवाद के असली रूप में अधिक प्रतिपन्न हैं। वे सांख्य के बहुपुरुषवाद को नही मानते क्योंकि ये अद्वैत-वाद में प्रतिपन्न हैं।

(४) योग में पतजलि के योग से गान्धी अधिक प्रभावित हैं। योग के प्रथम तीन सूत्रों को वे अक्षरशः मानते हैं जैसे वे वेदान्त के

प्रथम चार सूत्रों को मानते हैं। चित्त-वृत्ति का निरोध और इसकी सफलता ईश्वराराधन, इन दो योग के सिद्धान्तों को वे मानते हैं। अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः यमाः अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम अर्थात् महाव्रत हैं जो अवश्य करणीय है— इस सिद्धान्त को वे अक्षरशः मानते हैं। वे योग की अष्टांग-साधना-पद्धति से भी लाभ उठाते हैं। योग को वे मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान का महाकोष मानते हैं।

पतजलि के योग को राजयोग कहा जाता है। राजयोग और हठयोग दोनों मे सदाचार तथा शरीरगठन के सिद्धान्त हैं। पर हठयोग में शारीरिक शक्तियों को बढ़ाने के विशेष उपाय हैं। गान्धी इनके प्रति उदासीन है। वे कहते हैं कि हठयोग के शिक्षक रह नहीं गए और उसकी साधना मे प्राय· हानि की सभवना है।

(५) न्याय और वैशेषिक से गान्धी बहुत कम सहायता लेते हैं। वैशेषिक की धर्म-परिभाषा उनको मान्य है। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः— जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वह धम है। फिर इसी को वे नोति भी कहते हैं क्योंकि नीति से भी अभ्युदय और नि·श्रेयस की सिद्धि होती है। इस प्रकार धर्म और नीति मे गान्धी कोई भेद नही करते है। वैशेषिक के दैहिक वस्तुओं की पारस्परिक 'विशिष्टता' के सिद्धान्त को भी वे मानते हैं। वैशेषिक अणुवाद को वे आधुनिक वैज्ञानिक अणुवाद से समन्वित करते जान पड़ते हैं। न्याय से वे तर्क करने की शैली लेत है और उसके वितण्डावाद से अपन विपक्षियों के सिद्धान्त को काट देते हैं।

(६) महाभारत और गीता से वे बहुत शिक्षा लेते हैं। गीता को तो वे अपना आध्यात्मिक कोश ही कहते हैं। महाभारत की अनेक शिक्षाओं को वे मानते है। महाभारत ने युद्ध की व्यर्थता सिद्ध कर दी है क्योकि उसके वर्णित युद्ध के अनन्तर सिर्फ सात जन बचते हैं, और उनका भी शीघ्र अन्तकाल आ जाता है, मारे शौक के कारण—ऐसा

गान्धी मानते हैं। महाभारत को वे प्रतिदिन दैवी वृत्ति और आसुरी वृत्ति के बीच चलने वाला द्वन्द्व युद्ध मानते हैं। वे व्यास के इन वचनों को अक्षरशः सत्य मानते हैं।

१- श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अर्थात्

धर्म का यह रहस्य सुनो और सुनकर हृदय में धारण कर लो। जिसे अपने लिए बुरा समझते हो, उसे दूसरों के लिए मत करो।

२- परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्

अर्थात्

दूसरों का भला करने में पुण्य होता है और बुरा करने से पाप होता है।

३— धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

अर्थात्

धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इस कारण उस धर्म का पालन क्यों नहीं किया जाता ?

गीता को गान्धी तत्त्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं (आ० पृ० ८६)। वे इससे स्थितप्रज्ञ और अनासक्ति का सिद्धान्त विशेषतः लेते हैं।

७— *भागवत पुराण तथा अन्य पुराण*:— भागवत पुराण से गान्धी ने भक्ति के तत्त्व को अधिक पहचाना। पुराणों के बारे में वे कहते हैं कि ये स्मृतियों के विकास स्वरूप हैं और अपने युग की कृतियाँ हैं। इनमें सनातन सत्य का वर्णन कम है (द्र० हि० ध० ३४२-३४३)।

८—*सन्तसाहित्य*:— सन्तसाहित्य से, विशेषतः हिन्दी और गुजराती के संतसाहित्य से गान्धी अपने सत्य के सिद्धान्त, सबद या शब्द

(अन्तरात्मा की पुकार), नाम-साधना, रामनाम, सगुण-निर्गुण-समन्वय और उन्मनी अवस्था को लेते हैं। सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, रैदास, दादू, नानक, मीरा, नरसिंह मेहता, अखा आदि के भजन वे गाया और गवाया करते थे जो उनकी भजनावलि में संगृहीत होकर प्रकाशित हैं। इन्हीं संतों से, विशेषतः कबीर और नानक से, उनको राम-रहीम, कृष्ण-करीम की एकता के अपने सिद्धान्त का समर्थन मिला।

६—बौद्ध-धर्म-दर्शन से गान्धी निम्नलिखित सिद्धान्तों को लेते हैं:—

१—बुद्ध ने वेदों के कतिपय शब्दों का ऐसा अर्थ किया जो कि उस समय लोगों को मालूम न था। वे वेद के निष्णात ज्ञाता थे (द्र० हि० ध० पृ० २७०)।

सबसे पहिले कुमारिल ने यह दिखलाया कि बुद्ध की शिक्षाओं का मूल स्रोत उपनिषत् तथा वेद हैं और आज यह सिद्धान्त प्राय सर्वमान्य हो चला है। इस आधार पर गान्धी ने बौद्धधर्म को हिन्दूधर्म का ही अंग बनाया।

२—बुद्ध निरीश्वरवादी नहीं थे। उन्होंने अपने समय की ईश्वर विषयक प्रचलित धारणाओं का खण्डन किया, इस कारण वे निरीश्वर-वादी कहे गए, पर वस्तुतः वे ईश्वर को सर्वव्यापी नियति के रूप में मानते थे। वे विश्व की नैतिक शासन-व्यवस्था—ईश्वरत्व को मानते थे। उन्होंने विधि और विधाता दोनों को एक किया। इस प्रकार उन्होंने वैदिक 'ऋत' के अर्थ मे ईश्वरत्व को प्रतिष्ठित किया (वही पृ० २७१-२७२)।

३—निर्वाण बिलकुल अभाव नहीं है, यह सिर्फ बुराई मात्र का अभाव है। यह जीती-जागती शान्ति है (वही पृ० २७२)। निर्वाण शून्यता है, इसको मानते हुए भी गान्धी शून्यता का अर्थ शून्यवत्ता या नम्रता लगाते हैं।

४— पर बौद्ध धर्म-दर्शन की सबसे बड़ी देन इसकी जीवमात्र के प्रति दया या करुणा है (वही पृ० २७२)।

"बुद्ध की दया को देखिए, वह मनुष्य-जाति से भी आगे बढ़कर अन्य प्राणियों तक जा पहुँची थी। उनके कंधों पर खेलते हुए मेमने का चित्र आंखों के सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेम से परिपूर्ण नहीं हो जाता? यह प्राणी-मात्र का प्रेम मैं ईसा के चरित्र में नहीं पाता" (आ० पृ० २०१)।

गान्धी बौद्धों से कहते हैं कि "अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म स्थान भारत में ही उसे पायेंगे। जहाँ पर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और शंकराचार्य—जैसे अद्वितीय विद्वान्, जो प्रच्छन्न-बौद्ध कहलाए, उनके ग्रन्थों को भी आप समझेंगे तब बौद्ध धर्म का गूढ़ रहस्य आप जानेंगे (मे० प० ८६-८७)।"

यहाँ यह जानना कठिन न होगा कि गान्धी बौद्ध धर्म-दर्शन को वेद से निकला मानते हैं और फिर बौद्धधर्म-दर्शन की नयी शिक्षाओं को प्राचीन वेद-धर्म की शिक्षाओं के साथ समन्वित करने वाले शंकराचार्य को वे मानते हैं कि सही माने में प्रच्छन्न बौद्ध हैं। पर यहाँ 'प्रच्छन्न बौद्ध' यह शब्द तिरस्कारसूचक नहीं है जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है। गान्धी प्रच्छन्न बौद्ध को आदरसूचक अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। अगर शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध न होते तो वे बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म के अन्दर न ला पाते। उनकी बदौलत बौद्ध धर्म-दर्शन हिन्दू धर्म के अन्दर सदा के लिए आ गए। बुद्ध ईश्वर के अवतार बन गए और उनकी भी पूजा हिन्दू धर्म में होने लगी।

१०—जैन धर्म-दर्शन से गान्धी ने निम्नलिखित सिद्धान्त लिया—

१—अनेकान्तवाद—सत्ता अनेकधा है। उसमें अनन्त मूलगुण हैं। उसके अनन्त लक्षण हैं। अनन्तधर्मकं वस्तु। "मैं इस सिद्धान्त को बहुत अधिक पसन्द करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मझे सिखाया कि मुसलमान को उसकी ही दृष्टि से—स्वमतेन—जाँचना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से (हि० ध० पृ० ६२)।"

२—*स्याद्वाद*—जैन तर्क शास्त्र में प्रत्येक निर्णय को नय कहते हैं। यह दुर्नय, नय या प्रमाण नय हो सकता है। दुर्नय सर्वथा गलत है और नय साधारणतः सही समझा जाता है पर तर्कतः गलत है और प्रमाण नय सर्वथा तर्कतः सही है। प्रमाण नय के अनुसार प्रत्येक निर्णय को स्याद्पूर्वक कहना चाहिए। स्यात् का अर्थ है वह संकेत जो उन परिस्थितियों को बतलाता है जिसमें कि वह निर्णय तर्कतः सही है। गान्धी जब स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं तो वे प्रमाण नय को न लेकर नय को ही लेते हैं। पर इसका अर्थ वे ठीक लगाते हैं कि प्रत्येक निर्णायक अपनी दृष्टि से सही है और दूसरों की दृष्टि से गलत; और इस प्रकार सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से सही हैं (वही पृ० ६२)। इस सिद्धान्त ने गान्धी को लोगों को समझने में बड़ी मदद दी।

३—*सप्तभंगिनय*—जैन दर्शन में प्रमाण नय और नय तथा दुर्नय तीनों के सात-सात प्रकार हो सकते हैं। गान्धी सिर्फ प्रमाण नय वाले सप्तभंगिनय का एक स्थान पर उल्लेख करते हैं। इसके अनुसार किसी वस्तु को अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति दोनों, अवक्तव्य, अस्ति और अवक्तव्य, नास्ति और अवक्तव्य तथा अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य, इन सात दृष्टियों से देखा जा सकता है। तर्कतः ये सब दृष्टियाँ सिर्फ प्रमाण-नय वाले सप्तभंगनिय में ही ठीक हैं, नय वाले और दुर्नय वाले में नहीं।

गान्धी का उल्लेख यों है—

"सभी रचनाओं में लेखक की दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है। पर हर बात कम-से-कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय में एक ही मौके पर सही नहीं हुआ करती (आ० पृ० ३३७)।"

४—जैनियों ने भी योग की तरह पांच महाव्रतों पर जोर दिया और अहिंसा को तो अपने धर्म-दर्शन का केन्द्र ही बनाया। इस ओर यहाँ यह कहा जा सकता है कि गान्धी ने स्याद्वाद, अनेकान्तवाद

और अहिंसा के जैन-दर्शनगत अर्थों को काफी व्यापक बनाया, न कि उनको घटाया या कम किया।

वे जैनधर्म-दर्शन को भी हिन्दूधर्म का अंग समझते थे।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों से गान्धी ने कुछ-न-कुछ लिया। उन सब में उनको निम्नलिखित चार मतों के प्रति अद्भुद् अविरोध मिला—

१— उपर्युक्त सभी दर्शन मानते हैं कि दुःख सत् है।

२— वे इस दुःख के कारण की खोज करते हैं।

३— वे इस दुःख के निरोध को संभव बताते हैं।

४— और वे इस दुःख-निरोध का उपाय या मार्ग भी बताते हैं।

बौद्ध धर्म में इनको चार आर्य सत्य कहा जाता है। पर ये केवल बौद्ध धर्म की ही नहीं, वरन् उपर्युक्त सभी दर्शनों की सर्वमान्य शिक्षायें हैं।

भारतीय दर्शनों की अद्भुद् एकवाक्यता पर ही गान्धी ने विशेष ध्यान दिया। उन्होंने उपर्युक्त दर्शनों से ऊपर निर्दिष्ट सिद्धान्तों को लेकर इसी मतैक्य को और विकसित किया। पर उनका समन्वय यहीं तक सीमित न था। उन्होंने ईसाई मत, इस्लाम और पारसी धर्म से भी कुछ लिया।

गान्धी और ईसाई मत

गान्धी अपने को हिन्दू कहते हैं और उन्होंने बताया है कि आत्म-ज्ञान और भूतदया के क्षेत्र में हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से बढ़कर है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ईसाई मत पाप के परिणाम से मुक्ति दिलाता है, पापवृत्ति से नहीं; जब कि हिन्दू धर्म पाप-वृत्ति से मुक्ति दिलाता है "(द्र० आ० पृ० १५६) क्योंकि वह कर्म-फलत्याग की भावना से कर्म करने का विधान करता है जिससे पाप होता ही नहीं और वह कर्त्ता को पुण्यात्मा मानता है। इस कारण भी

हिन्दूधर्म ईसाई धर्म से उनको श्रेष्ठ लगा। वे ईसा को सिद्ध पुरुष या ईश्वर न मान सके। वे उनको भक्त ही मानते थे। उनका विश्वास था कि जीव मात्र में आत्मा है और वह एक है। ईसाई मत के अनुसार सिर्फ मनुष्यों में ही आत्मा है। इन मतभेदों के फलस्वरूप गान्धी ईसाई न हो सके यद्यपि उनको ईसाई बनाने के कुचक्र किए गए।

इतना होते हुए भी उन्होंने ईसाई मत से कुछ शिक्षा ली। ईसाइयों ने इन्हें ख्रिस्ती या ईसाई माना क्योंकि उन्हें इनके जीवन में ईसा के चरित्र का परिपाक मिला, इनकी अहिंसा उन्हें ईसाई सन्तों की अहिंसा को याद कराती है, इनकी ऐच्छिक दीनता उन्हें सन्त फ्रांसिस का स्मरण कराती है। गान्धी ईसाइयों के भजनों को भी अपनी भजनावलि में शामिल करते थे। यह सब देखकर कुछ हिन्दुओं ने भी इन्हें प्रच्छन्न ईसाई कहा (हि० ध० पृ० १८७)।

गान्धी ने इसका जवाब दिया—

"प्रच्छन्न ईसाई का दोषारोपण नया नहीं है। यह निन्दा और स्तुति दोनों है। यह निन्दाजनक है क्योंकि इससे पता चलता है कि कुछ लोगों का विश्वास है कि मैं भीतर से कुछ दूसरा हो सकता हूं, भीतर से इसलिए कि मैं वैसा बाहर से होने में डरता हूं। दुनिया में कोई ताकत नहीं है जो मुझे ईसाई मत मानने से रोक सके अगर इसकी सत्यता और आवश्यकता मुझे महसूस हो जाय। जहाँ भय है वहाँ धर्म नहीं है। यह दोषारोपण एक प्रकार की स्तुति है क्योंकि यह बताती है कि मैं ईसाई मत के सौन्दर्य को परखने में समर्थ हूं। मैं इसे मानता हूं। अगर मैं बाइबिल या कुरान का जो अर्थ करता हूं उसके अनुसार मैं ख्रिस्ती या मुसलमान कहा जाऊँ, तो मुझे ऐसा समझे जाने में कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि तब हिन्दू, ख्रिस्ती और मुसलमान एकार्थक शब्द होंगे। मैं मानता हूं कि परलोक में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि का विभाजन नहीं है (हि० ध० पृ० २६७-२६८)।"

फिर गान्धी यह न मान सके कि ईसाई मत से ही मुक्ति संभव है और यही एक संपूर्ण धर्म है। वे कहते थे कि प्रत्येक धर्म मानव-निर्मित हैं और इस कारण अपूर्ण हैं। इस कारण उन सबको, एक-दूसरे को एक-दूसरे से अनुपूरित करना चाहिए अर्थात् एक धर्म वाले को दूसरे धर्म के ग्रन्थों और शिक्षाओं को उसके अनुसार ही अभ्यास में लाने का प्रयास करना चाहिए।

इन कारणों से हम कह सकते हैं कि गान्धी निन्दनीय अर्थ में प्रच्छन्न ईसाई या खुले आम ईसाई न थे। वे हिन्दू थे। पर चूँकि उनका हिन्दुत्व दार्शनिक था, व्यापक था, सर्वसंग्राहक था, अतः इसमें ईसाई मत के भी सनातन सिद्धान्तों का समावेश था, पर यह ईसाई मत के कारण नहीं किन्तु उस सर्वसंग्राहक व्यापक धर्म की धर्मता के ही कारण संभव था।

गान्धी और इस्लाम

जैसे कुछ लोगों ने गान्धी को खुले आम या प्रच्छन्न ईसाई समझा, वैसे बहुत से लोगों ने, हिन्दुओं ने भी, उन्हें मुस्लिम-परस्त कहा। उनके ऊपर दोषारोपण किया गया कि वे मुसलमानों का पक्ष लेते हैं और उन्हें तुष्ट करते हैं।

वे कुरान की कुछ आयतों की नियमित प्रार्थना करते थे। रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम, इस हरिकीर्तन पदावली में उन्होंने 'ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम। सब को सन्मति दे भगवान्', इसको भी जोड़ा। वे सदा राम-रहीम और कृष्ण-करीम के रूप में ही अपने आराध्य देव को भजते थे।

वे मानते थे कि "ओज अबिल्ला' में सारी वे ही बातें है जो यजुर्वेद में हैं (प्रा० १ पृ० ३१)।" उन्होंने हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक शक्ति को परखा और कहा कि 'अल्लोपनिषद्' बनाकर हिन्दू धर्म ने इसका सुन्दर परिचय दिया हैं।

वे कुरान शरीफ को सब अन्य धर्म गन्थों की तरह अपूर्ण मानते थे। वे इस बात से इतराज़ करते थे कि मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। मुसलमान स्वयं मूर्तिपूजक हैं क्योंकि वे किताब, 'कुरान' को पूजते हैं— ऐसा गान्धी का विचार था। फिर वे मुहम्मद को ही अकेला या अन्तिम ईश्वरावतार या स्थितप्रज्ञ नहीं मानते हैं। इन सब कारणों से हम कह सकते है कि गान्धी मुस्लिम-परस्त नहीं थे। इन कारणों से तो कुछ अन्धे मुसलमानों ने, लीगियों ने, गान्धी को इस्लाम का दुश्मन तक कहा और उन्हें कट्टर या पुराणपन्थी हिन्दू ही माना।

पर सच बात यह है कि गान्धी ने कबीर की तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्म मे कतिपय दोष देखा और बहुत कुछ अच्छाइयाँ पायीं जो दोनों में एकरूप हैं। इस कारण उन्होंने अपने को विशुद्ध दार्शनिक धर्म या नैतिक धर्म का ही अनुयायी बनाया।

उनका यह दावा ठीक था कि चूँकि मैं सच्चा हिन्दू हूं, इसलिए मैं सच्चा ख्रिस्ती हूं, सच्चा मुसलमान हूं, सच्चा पारसी हूं, सच्चा सिक्ख हूं। वे यह भी कहते थे कि धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। "धर्म-पलटा शब्द मेरे कोश मे नहीं है (प्रा० २ पृ० २३७)।" एक धर्म को सच्ची तरह मानने वाला अगर दूसरे धर्म को सच्ची तरह से समझे तो वह अनुभव करेगा कि वह उसे भी सच्ची तरह मानता है; क्योंकि सभी धर्मों की शिक्षा है प्रेम, सत्य और अहिंसा। इसीलिए गान्धी ने 'अहिंसा परमो धर्म, नहि सत्यात् परो धर्मः, नहि दयासदृशः धर्म' में सब धर्मो का समन्वय किया और इकबाल की सुन्दर कृति की बड़ी प्रशंसा की कि 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना'।

गान्धी तथा आधुनिक दर्शन

कुछ लोगों ने गान्धी को साम्यवादी भी कहा। साम्यवादियों ने उनको साम्यवाद का विरोधी कहा। इतना होते हुए भी यह मानना

पड़ेगा कि समता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुता की भावनाओं को गान्धी साम्यवादियों से कम नहीं मानते। वे साम्यवाद की हिंसक क्रान्ति के स्थान पर अहिंसक क्रान्ति और लोक-संघर्ष या वर्ग-संघर्ष के स्थान पर लोक-संग्रह या वर्ग-संग्रह को मानते हैं और ईश्वर परम अर्थ के अर्थ में लिया जाय तो साम्यवाद से उसका विरोध वे नहीं पाते।

वर्तमान समाज-दर्शन और राजनीति-दर्शन से भी गान्धी ने बहुत कुछ शिक्षा ली। वे जनतन्त्रवादी थे। कुछ लोग उनके इन्हीं सिद्धान्तों को ही महत्त्व देते हैं और कहते हैं कि गान्धी प्रच्छन्न धार्मिक थे और खुले आम राजनीतिज्ञ तथा सामाजिक दार्शनिक। पर यह भी एकांगी वर्णन है और 'प्रच्छन्न' के निन्दनीय अर्थों में त्याज्य तथा प्रशंसनीय अर्थों में ग्राह्य है।

वर्तमान पाश्चात्य दर्शन की दो-तीन धाराओं के साथ गान्धी के दर्शन का बहुत मेल बैठता है यद्यपि गान्धी को इनसे प्रेरणा नहीं मिली थी। इनमें लोकबुद्धिवाद, अस्तित्ववाद, मूल्यमीमांसा और नव्य टामसवाद मुख्य हैं। जैसे नव्य टामसवादियों ने टामसवाद का पुनर्जागरण किया, वैसे गान्धी नव्य हिन्दुत्व के प्रवर्तक माने जाते हैं। बार्कर ने कहा है कि गान्धी संत टामस अक्विना की तरह विचारक और दार्शनिक हैं और अपनी समस्त कृतियों में उच्चकोटि के तर्क रखते हैं तथा विचार की सूक्ष्मताओं का अनुसरण करते हैं (रा० पृ० ६०)। अस्तित्ववाद के कतिपय दार्शनिकों की तरह, मार्सेल और यास्पर्स की तरह, गान्धी सनातन दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं और बुद्धि तथा अन्य मनः शक्तियों के समन्वय पर जोर देते हैं, खासतौर से हृदय या अन्तरात्मा की अनुभूति पर। दुःखानुभूतियों में वे अपने अस्तित्व को गभीरतापूर्वक अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। साम्यवादियों के विरोध में अस्तित्ववादियों का वैयक्तिक स्वतन्त्रेच्छा का समर्थन बहुत कुछ गान्धीवादी लगता है।

इँग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक जी० ई० मोर की भाँति गान्धी लोक-बुद्धि के दृष्टिकोणों को अधिक महत्त्व देते हैं और अपने को ग्रामवासी कहकर यह सिद्ध करते हैं कि उन्हें ग्रामवासियों का दृष्टिकोण ही अधिक उचित जान पड़ता है। जब उनसे कोई गूढ़ दार्शनिक प्रश्न पूछता था तो वे कहते थे कि "मैं तो एक ग्रामवासी जो जबाब देगा वही दे सकता हूं (ब्र० १ पृ० १४१)"। पर यहाँ यह धारणा न बना लेनी चाहिए कि गान्धी सिर्फ ग्रामवासी की तरह ही सोचते-विचारते हैं। वास्तव में मोर की भाँति उनमें भी लोकबुद्धि की विचारणाओं में प्रामाणिकता देखने की अधिक चिन्तन-शक्ति है और वे उनको स्वीकार करने में कुछ न कुछ तर्क रखते हैं।

पर गान्धी जिस विचार-धारा का सर्वाधिक समर्थन करते प्रतीत होते हैं वह है विज्ञानवादी मूल्यमीमांसा जिसका समर्थन इस समय अरबन जैसे अमेरिकन दार्शनिक कर रहे हैं। गान्धी भी सभी दर्शनों का समन्वय मूल्यमीमांसा में करते हैं— इसको हमने उनके बुनियादी तत्त्ववाद में देख ही लिया है।

अब हम सक्षेप में गान्धी के दर्शन का विकास-क्रम देखेंगे।

गान्धी-दर्शन का विकास-क्रम

धार्मिक दृष्टि से देखने पर गान्धी ने साधारण हिन्दू के लौकिक-पारलौकिक विश्वासों से अपना दर्शन आरंभ किया और अन्त में उसकी पराकाष्ठा आत्मवादी मूल्यमीमांसा में की। इस विकासक्रम में निम्नलिखित छ सोपान विशेष उल्लेखयोग्य हैं—

१—*वैपुल्यवाद*— गान्धी की आरभिक दार्शनिक विचारधारा वैपुल्यवादी थी। इसके भी दो रूप हैं। पहले वह नितांत लोकबुद्धि वाली विचार-धारा थी और बाद में वह जैनियों वाली दार्शनिक विचार-सरणि बनी।

(क) *लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद*— इस आरंभिक अवस्था में गान्धी अनेक प्रकार के सतों में विश्वास करते थे। अनेक जीव, अनेक योनियाँ अनेक देव, एकेश्वर, अनेक प्रकार के भौतिक पदार्थ, आदि उन सभी वस्तुओं में उनका विश्वास था जिनमें एक साधारण, गैर-पढ़ा-लिखा, बिना ज्ञान वाला, हिन्दू करता है।

(ख) *जैन वैपुल्यवाद*— पर लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद शीघ्र जैन वैपुल्यवाद में बदल गया। गान्धी को आरभ में जैन दर्शन का ही शास्त्रीय ज्ञान हुआ। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि उनके जन्म-स्थान के आस-पास सदियों से जैन-विचार-धारा का बहुत प्रचार था। दूसरा यह है कि उनको श्रीमद् रायचन्द्र भाई से बड़ी प्रेरणा मिली थी जो एक बहुत बड़े जैन विद्वान् थे। इन्हीं दो स्रोतों से उन्हें जैन वैपुल्यवाद का पता चला और उन्होंने जैन तत्त्ववाद में विश्वास किया।

जैन वैपुल्यवाद लोकबुद्धिमय वैपुल्य वाद को कुछ दार्शनिक रूप देता है। इसके अनुसार द्रव्य तथा उसके गुण और पर्याय सत् हैं। द्रव्य अनेक हैं जिनमें अनेक जीव, काल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल— ये ६ द्रव्य हैं। इनमें अन्तिम ५ अजीव हैं।

२—*सांख्य द्वैतवाद*— जिस समय गान्धी जैन वैपुल्यवाद को मान रहे थे उसी समय रायचंद भाई के कहने पर ही उन्होंने गीता का प्रगाढ़ अध्ययन शुरू किया। गीता का परिचय तो उनको इससे पहले इडविन आरनाल्ड के अंगरेजी अनुवाद से भी हुआ था। पर उस समय गान्धी की दार्शनिक अवस्था लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद की ही थी, अतः उसका विशेष तात्त्विक प्रभाव नही पड़ा था। गीता के इस अध्ययन से उन्हें सांख्य का परिचय हुआ।

जैन तत्त्वदर्शन मे द्रव्य का विभाजन जीव तथा अजीव में देख कर और साख्य में भी तत्त्व का वर्गीकरण प्रकृति तथा पुरुष में पाकर वे द्वैतवादी हो गए। फिर चूँकि सांख्य प्रकृति के ही परिणाम या

विकास को अनेक तत्त्वों में शास्त्रीय ढंग से दिखाता है अतः सभी प्राकृतिक तत्त्वों को प्रकृति से निकला हुआ मानने के लिए वे सांख्य के विकासवाद में प्रतिपन्न हुए।

इस तरह वे पुरुष और प्रकृति इन मूलभूत दो तत्त्वों को मानने लगे और अन्य सकल पदार्थों को प्राकृतिक या प्रकृति का विकार मानने लगे।

पर इस सांख्य द्वैतवाद में कुछ कमियाँ उनको नजर आयीं। उदाहरण के लिए सांख्य अनेक पुरुष मानता है। गान्धी ने जैसे भौतिक वस्तुओं और पदार्थों को प्रकृति का परिणाम माना, वैसे उन्होंने नाना पुरुषों को जीव कहा और उन्हें एक आत्मा का ही परिणाम माना।

इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, ये दो मूलभूत तत्त्व माने गए और फिर आत्मा के परिणाम को आत्मिक और प्रकृति के परिणाम को प्राकृतिक कहा गया। आत्मा और आत्मिक को हम एक तत्त्व कह सकते हैं ठीक वैसे ही जैसे प्रकृति और प्राकृतिक को कहते हैं।

यही गान्धी को सबसे पहले यह ज्ञात हुआ कि आत्मा को परमार्थ या परम मूल्य होना चाहिए जिसमें कि अनेक आत्मिकों या मूल्यों का सघटन हो सके।

३— *सर्वेश्वरवाद*— द्वैतवाद ने गान्धी के मन के भीतर ही भीतर आत्मा और प्रकृति के सबन्ध को उठा दिया। इस संबन्ध का समाधान उनको सांख्य से न हुआ। मौलिक दो पदार्थों मे उनको कुछ अन्तर न प्रतीत हुआ क्योंकि वे दोनों सदा एकसाथ रहते हैं, सदा एकसाथ प्रत्येक परिणाम को विकसित करते हैं और अन्त मे प्रत्येक परिणाम को अपने में एक साथ लीन करते हैं। इस विचार ने उनको पढ़ाया कि आत्मा प्रकृति है और प्रकृति आत्मा है। फिर चूँकि वे आत्मा को परमात्मा या ईश्वर मानते थे अर्थात् उसको वे परम अर्थ या मूल्य समझते थे अतः उन्होंने कहा कि ईश्वर प्रकृति है और प्रकृति ईश्वर है। इस प्रकार उनका सिद्धान्त सर्वेश्वरवाद हो चला क्योंकि प्रकृति का अर्थ है

वस्तुत. जगत् की सारी चीजें और उनसे ही अब ईश्वर का अभेद हो गया। ईशावास्यमिदं सर्वं का ज्ञान गान्धी की इसी अवस्था का सूचक है।

४— *अद्वैतवाद-मायावाद*— पर विचार करने पर गान्धी ने देखा कि वस्तुतः 'परमात्मा जगत् है' यह पूर्ण सत्य नहीं है। परमात्मा जगत् से परे भी है, यह उनको पता चला। 'नेति-नेति' का ज्ञान यही संकेत करता है। फलतः वे परमात्मा को परात्पर मानने लगे, पर उसकी अन्तर्यामिता को भुलाया नहीं। इससे प्रश्न बना ही रहा कि परमात्मा और जगत् या प्रकृति का क्या सबन्ध है? परमात्मा की सत्ता प्रकृति के बिना रहती है और प्रकृति या जगत् 'अश्वत्थ' है, अर्थात् कल तक टिकने वाला नहीं है, गीता के इस ज्ञान से तथा प्रचलित अद्वैतवाद के प्रभाव से गान्धी ने जगत् को माया समझा। माया का अर्थ पहले वे मिथ्या लगाते थे अर्थात् बिलकुल भ्रम और बाद में इसका सच्चा अर्थ व्यावहारिक सत्ता लगाने लगे थे, यह बात उनके तत्त्ववाद में स्पष्ट ही कर दी गई है।

५— *लीलावाद*— 'माया' को व्यावहारिक सत्ता मानने पर और एकमात्र सत् अद्वैत-आत्मा को ही मानने पर यह प्रश्न कुछ बना ही रहता है कि आत्मा और इस व्यावहारिक सत् का क्या सबध है? यह व्यावहारिक सत् पूर्णतया मिथ्या या भ्रम तो है नही। यद्यपि यह नित्य परिवर्तनशील है, पर शाश्वत तो है ही।

अतः इस सबन्ध को जानने की इच्छायें तथा पूर्वगत दार्शनिक अवस्थाओं को समन्वय करने की भावना ने उन्हें 'लीलावाद' के पास पहुँचा दिया और वे मानने लगे कि जगत् परमात्मा की महज लीला या खेल है। इसका और कोई अर्थ नहीं है। चूँकि माया भी वस्तु-स्थिति का निरूपण ही है और यह लीला भी वस्तु-स्थिति ही है, अतः मायावाद और लीलावाद दोनों एक हैं? इस प्रकार गान्धी ने निष्कर्ष निकाला और इस ओर उन्हें भारतीय सन्तों से अधिक सहायता मिली

जिन्होंने निर्गुण और सगुण का समन्वय करके अद्वैत वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के बीच चलने वाले झगड़ों को भारत में सदा के लिए बन्द कर दिया या शान्त कर दिया।

६— *आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमासा*— कई बार गान्धी से लोगों ने प्रश्न पूछा कि जगत् का परमात्मा के साथ क्या सच्चा संबन्ध है? उन्होंने उनको अपना उपर्युक्त समाधान बतलाया, पर देखा कि इससे लोगों को सन्तोष नहीं है। बुद्धि को इससे सतोष नही भी हो सकता। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर देना भी अशक्य है। पर सबसे बड़े मार्के की बात यह है कि इसका उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है। यह व्यर्थ का प्रश्न है। अत इसका उत्तर तो और व्यर्थ होगा। इसलिए इसके विषय में माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का कार्य सिर्फ इतना है कि वह आत्माद्वैत को समझे और इसे परम अर्थ या मूल्य माने। इसका ईशन या शासन अर्थात् ईश्वरत्व वह जगत् में प्रकृति पर, देह पर स्थापित करे। यही मुख्य दर्शन है। इस कार्य में पता चलता है कि अनेक गौण मूल्य हैं जो हमे इस मुख्य मूल्य की ओर ले चलते है। इन मूल्यों का आत्मा के साथ अभेद और अनिवारणीय संबन्ध है। आत्मा मे ही स्थित रहकर, स्वस्थ रहकर, प्रत्येक कार्य इसी परम मूल्य की दृष्टि से करने से, व्यवहार की दृष्टि मे भी सफलता मिलती है और आन्तरिक शान्ति भी प्राप्ति होती है। यही आन्तरिक शान्ति निःश्रेयस या मोक्ष है और व्यावहारिक सफलता अभ्युदय है। अत. नीति और धर्म या दोनों का इसमें समाहार हो जाता है।

इस प्रकार गान्धी के अनुभवों ने इस आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमांसा को उनका मुख्य दर्शन बना दिया। इस ओर उनको वेदों, बुद्धवाणी, जैन ग्रन्थों, वेदान्त, सन्त साहित्य आदि से भी प्रेरणा मिली। उन्होंने महसूस किया कि भारत का सच्चा सनातन यही दर्शन है। जब से

आर्यगण गंगा पर उतरे तब से आज तक इसी विचार-धारा का बोल-बोला है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो हम पाश्चात्य दर्शन के भी इसी समन्वय पर पहुँचते हैं और अरबन के ग्रन्थों को पढ़ने वाले जानते हैं कि उसने अपनी आत्मवादी मूल्यमीमांसा में पाश्चात्य-दर्शन का ऐसा ही समन्वय किया है।

अत में यह जानना जरूरी है कि यही सर्वदा दर्शन रहेगा और भारत मे आज इसकी ही परम आवश्यकता है क्योंकि आज मूल्यों का मूल्यान्तरण या पुनर्मूल्यांकन भारत मे विशेष हो रहा है। प्राचीन मूल्यों को अमूल्य घोषित किया जा रहा है और नवीन मूल्यों की अवतारणा की जा रही है। गान्धी ने कतिपय नवीन मूल्यों को दिया और दिखा दिया कि वस्तुत सभी मूल्यों का प्राचीन काल में आविष्कार हो गया है। हमें उन्ही का परस्पर मूल्यान्तरण या उनके मूल्यों का परिवर्तन-परिवर्धन करना चाहिए। इन सब प्रक्रियायो मे सभी व्यक्तियों के अन्दर रहने वाले एक परम मूल्य या अर्थ को जिसे हम अर्थतामात्र कह सकते है, भुलाया नही जा सकता है। यही अर्थता सभी अर्थों या मूल्यों का ईशन अर्थात् नियन्त्रण या शासन करती है अत· उसको ईश्वर कहना नाजायज नही है। हम शब्दों का अर्थ भले ही बदल दें, पर सभी शब्द और अर्थ जिस एक वस्तु को अन्ततोगत्वा इगित करते हैं, उसको हम बदल नही सकते हैं, हाँ उसको हम अपनी समझ के अनुसार, अपने देश के अनुसार, नया अर्थ दे सकते हैं और देना भी चाहिए।

इस अर्थ मे इसीलिए गान्धी कहते है "शरीर छूटता है, आत्मा थोड़े छूटता है। आत्मा की गति बढ़ती ही रहती है (प्रा० २ पृ० १६)।"

यह आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमांसा सनातन दर्शन है और अखड-नीय है। इसका वर्णन हम इकबाल की 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' इस कविता में कतिपय शब्दों को बदल कर अच्छी तरह से कर सकते हैं। वह वर्णन यों होगा—

सारे जहाँ से अच्छा आतमनगर हमारा।
हम बुलबुले हैं उसकी, वह बोस्तां हमारा ॥
गुरबत में हों अगर हम, रहता है दिल वतन में।
समझो वहीं हमे भी, दिल हो जहाँ हमारा ॥१॥
आदर्श वह सबसे ऊँचा, हम साया आसमाँ का।
वह सतरी हमारा वह पासबाँ हमारा ॥२॥
गोदी में खेलने हैं जिसकी हजारों रसिया।
गुलशन है जिनके दम से, रश्के जिनाँ हमारा ।३॥
ऐ आबे रूदे गगा, वह दिन है याद तुझको,
उतरा तेरे किनारे, जब कारवा हमारा ॥४॥
दर्शन नहीं सिखाता आपस मे बैर रखना,
द्रष्टा हैं हम, वतन है आतमनगर हमारा ॥५॥
यूनानो, मिस्र, रूमा, सब मिट गए जहाँ से।
अब तक मगर है बाकी, नामोनिशा हमारा ॥६॥
कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जमाँ हमारा ॥७॥
इकबाल कोई महरम, अपना नहीं जहाँ में।
मालूम क्या किसी को, दर्दे निहाँ हमारा ॥८॥

इकबाल की कविता में 'आतमनगर' के स्थान पर 'हिन्दोस्ताँ', 'आदर्श' के स्थान पर 'परबत', 'दर्शन' के स्थान पर 'मजहब', 'द्रष्टा' के स्थान पर 'हिन्दी' और 'गोदी मे खेलते है, जिसकी हजारों रसिया' के स्थान पर 'गोदी मे खेलती है, जिसकी हजारों नदियों' ये शब्द या पदावली हैं।

हमारा विचार है कि इकबाल को कविता का यह रूपान्तरण उसके मूलस्वरूप से अधिक सत्य है। लगता है कि याज्ञवल्क्य, बुद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, तथा सभी भारतीय सन्त और

दार्शनिक इस कविता को गा रहे हैं। गान्धी भी इसी को गा रहे हैं। जब से गंगा के तट पर हमारा आत्म-ज्ञान जगा था, तब से लेकर आज तक हजारों 'रसिया' या द्रष्टा गण इसमें खेल चुके और आज भी खेल रहे है जिनके दम से हमारा आत्मज्ञान सदा फूलता-फलता रहता है। दर्शन-सम्प्रदाय इस आत्मज्ञान को काट नहीं सकते हैं, वे बहुत करेंगे तो इसका कुछ अर्थ दूसरा-तीसरा लगायेंगे। कुछ ऐसी बात है कि इस आत्मज्ञान का अस्तित्व मिटता नहीं है, यद्यपि इसके दुश्मन सदियों से इस पर आक्रमण करते आए है। यह वह नगर है जो अपने दुश्मनों को भी अपना नागरिक बना लेता है। यूनानी, मिस्र और रोम की संस्कृतियों के सूचक दर्शन आज नहीं रह गए, पर हमारा यह दर्शन सदियों की बौछारों से भी बचता रहा है।



संकेत-सूची

अ० रा० = अनीति की राह पर।
आ० = आत्मकथा।
गा० स० = गान्धीवाद: समाजवाद।
गी० मा० = गीतामाता।
ग्रे० = The Power of Non-Violence by Richard Gregg.
च० = चन्द्रशंकर शुक्ल कृत Gandhi's View of Life.
द० अ० = दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास।
द्र० = द्रष्टव्य।
ध० नी० = धर्म-नीति।
प० अ० = पन्द्रह अगस्त के बाद।
पृ० = पृष्ठ।
प्रा०१ = प्रार्थना प्रवचन, प्रथम भाग।
प्रा०२ = प्रार्थना प्रवचन द्वितीय भाग।
फा० = For the Pacifists.
ब्र०१ = ब्रह्मचर्य, प्रथम भाग।
ब्र०२ = ब्रह्मचर्य, द्वितीय भाग।
भजनावलि = आश्रमभजनावलि।
म० दे० = महादेव देसाई कृत The Gita According to Gandhi.

मे० = मेरे समकालीन।

रा० = डा० राधाकृष्णन् द्वारा संपादित Mahatma Gandhi.

रान० = डा० रानडे कृत The Conception of Spiritual life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints.

रो० = रोनाल्ड डुन्कन कृत Selected Writings of Mahatma Gandhi.

व० = वही।

वि० भा० = Vishva Bharati Quaterly, Gandhi Memorial Peace No.

सु० = सुशीला नय्यर कृत बापू की कारावास कहानी।

हि०ध० = Hindu Dharma.



सहायक पुस्तकों की सूची

गान्धी की पुस्तकें

१. प्रार्थना-प्रवचन, भाग १, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन नई दिल्ली।
२. प्रार्थना-प्रवचन, भाग २, ,, ,, ,, ,,
३. गीता-माता, ,, ,, ,, ,,
[इसमें गीता-बोध, अनासक्तियोग, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (मूल), गीता-प्रवेशिका, गीता-पदार्थ-कोष और गीता-माता— ये पुस्तकें संगृहीत हैं]
४. पन्द्रह अगस्त के बाद, सस्ता साहित्यमंडल प्रकाशन, नई दिल्ली।
५. धर्मनीति, ,, ,, ,, ,,
[इसमे नीति-धर्म, सर्वोदय, मंगलप्रभात और आश्रम-वासियों से— ये चार पुस्तकें संगृहीत हैं।]
६. दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन।
७. मेरे समकालीन, ,, ,,
८. आत्मकथा, ,, ,,
९. अनीति की राह पर, ,, ,,
१०. ब्रह्मचर्य भाग १, ,, ,,
११. ब्रह्मचर्य भाग २, ,, ,,

१२. Hindu Dharm, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद।
१३. Ramanama, ,, ,, ,,
१४. For the Pacifists, ,, ,, ,,
१५. Hind Swaraj, ,, ,, ,,
१६. Constructive Programme, ,, ,, ,,

अन्य की लिखी पुस्तकें

१७. आश्रम भजनावलि : नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद।
१८. गोरा द्वारा : An Atheist with Gandhi ,, ,,
१९. किशोरलाल मशरूवाला द्वारा : Practical Nonviolence.
२०. रिचर्ड ग्रेग द्वारा : A Discipline for Nonviolence, नवजीवन प्रकाशन।
२१. रिचर्ड ग्रेग द्वारा : The Power of Non-Violence, नवजीवन प्रकाशन।
२२. महादेव देसाई द्वारा : The Gita According to Gandhi, नवजीवन प्रकाशन।
२३. रोमें रोलां द्वारा : Mahatma Gandhi, जार्ज एलेन एण्ड अनविन।
२४. विश्वभारती पत्रिका, गान्धी मेमोरियल पीस अंक, शान्ति निकेतन।
२५. डा० राधाकृष्णन् द्वारा संपादित : Mahatma Gandhi, जार्ज एलेन एण्ड अनविन।
२६. ,, ,, : Contemporary Indian Philosophy (महात्मा गान्धी का लेख)।
२७. डा० पी० टी० राजू द्वारा : Idealistic Thought of India, जार्ज एलेन एण्ड अनविन प्रकाशन।

२८. डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त द्वारा : The Philosophy of Mahatma Gandhi.
२९. लुई फिशर द्वारा : The Life of Mahatma Gandhi.
३० रोनाल्ड डुन्केन : Selected Writings of Mahatma Gandhi.
३१. सी० एफ० एण्ड्रूज द्वारा संपादित : Mahatma Gandhi's Ideas, जार्ज एलेन एण्ड अनविन।
३२. चन्द्रशंकर शुक्ल द्वारा : Gandhi's View of Life, भारतीय विद्याभवन प्रकाशन, बम्बई।
३३. गान्धी वाद : समाजवाद, हिन्दी प्रकाशन मंदिर, प्रयाग।
३४. बिनोबा द्वारा गीता-प्रवचन, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन।
३५. वियोगी हरि द्वारा संपादित बिनोबा के विचार, ,, ,, (दो भाग)।
३६. बिनोबा द्वारा स्थितप्रज्ञ दर्शन, ,, ,,
३७. ,, ,, ईशावास्यवृत्ति, ,, ,,
३८. तुलसीदास कृत रामचरित मानस, ,, ,,
३९. वियोगी हरि द्वारा संपादित संतसुधासार, ,, ,,
४०. परशुरामचतुर्वेदी द्वारा उत्तरी भारत की संत परम्परा, भारती भण्डार, प्रयाग।
४१. श्रीमन्नारायण अग्रवाल : The Gandhian Plan, नवजीवन प्रकाशन।
४२. आचार्य कृपलानी : The Gandhian Way.
४३. बिनोबा द्वारा सर्वोदय-विचार, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन।
४४. हेनरी टामस तथा डी० एल० टामस द्वारा : Living Biographies of Religious Leaders, पर्मा ज्याइन्ट्स प्रकाशन, न्यूयार्क।

४५. संगमलाल पाण्डेय द्वारा गीता, गान्धी, नीट्शे और मार्क्स के नीतिशास्त्र. सेण्ट्रल बुकडिपो, प्रयाग।

४६. सुशीला नय्यर : बापू की करावास कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल।

४७. पट्टाभि सीतारमैय्या : Gandhi and Gandhism.

४८. डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे The Conception of Spiritual Life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद।



नामानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका



विषयानुक्रमणिका

(केवल महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विषयों की अनुक्रमणिका)

विषयानुक्रमणिका

